Received
28/6/96

P 2 E 6

श्रीधादर्श

आ. श्री कैलाससागर सूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा
पिन-382009.

२८

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
मार्च १९९६

शोधादर्श

२८

प्रकाशक :
तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
मार्च १९९६

संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : (स्व.) डा० ज्योति प्रसाद जैन
प्रबन्ध सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन
मन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ–२२६ ००४
सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन

★ विषय-क्रम ★

१. गुरुगुण-कीर्तन : हरिवंशपुराणकार जिनसेन सूरि –श्री रमा कान्त जैन १
२. सम्पादकीय : प्रथम इतिहास पुरुष —श्री अजित प्रसाद जैन ६
३. श्री महावीर वचनामृत १३
४. मानव धर्म : प्रास्ताविक —डा० शशि कान्त १४
५. जैन धर्म —डा० ज्योति प्रसाद जैन १७
६. वैदिक-हिन्दू धर्म —स्वामी गौरीश्वरानन्द २०
७. पारसी धर्म —मेजर ई० एच० कैन्टीनवाला २२
८. बौद्ध धर्म —भिक्षु चन्द्र रत्न २४
९. ईसाई धर्म —फादर थियो पिन्टो २७
१०. इस्लाम धर्म —मौलाना मुहम्मद इरफान २८
११. सिख धर्म —सरदार त्रिलोचन सिंह भसीन ३०
१२. जैन ऐतिहासिक पुरुष : सम्राट सम्प्रति –डा० विनोद कुमार तिवारी ३२
१३. ग्वालियर के जैन मन्दिरों की अनुपम भित्तिचित्र शैली —डा० अभय प्रकाश जैन ३७
१४. भारतीय ध्यान पद्धति : एक दृष्टि —कु० सुधा जैन ३९
१५. नलविलास नाटक का काव्य सौन्दर्य —डा० कृष्ण पाल त्रिपाठी ४४
१६. वाचक कुशल लाभ और उनकी रचनाएं —श्री वेद प्रकाश गर्ग ५५
१७. चिन्तन कण : —श्री अजित प्रसाद जैन
तीर्थंकर गर्भावतरण पर रत्न वृष्टि ६४
छप्पन कुमारी देवांगनाएं ६५
सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेक ६५
कुछ रोचक प्रश्न एवं समाधान ६७
१८. श्री सम्मेदशिखर विवाद —डा० शशि कान्त ६९
१९. विचार-बिन्दु : आत्म-घाती मांग —श्री जौहरीमल पारख ७८
२०. पर्यावरण और जीव दया :
मूक पशु की आवाज —श्री कैलाश भूषण जिन्दल ८५
२१. गणतन्त्र दिवस बना प्रश्न-चिन्ह —इं० राजीव कान्त जैन ८९
२२. डा० ज्योति प्रसाद जैन की जन्म-जयन्ति ९१
२३. श्री रमा कान्त जैन की षष्ठिपूर्ति —श्री अंशु जैन ९१
२४. तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश
प्रगति प्रतिवेदन वर्ष १९९५–९६ —श्री अजित प्रसाद जैन ९३
२५. साहित्य सत्कार :
अनाश्रिता ; नागफनी द्वारे-द्वारे ; तेरी महिमा मेरे गीत;
द्रव्य संग्रह; ज्ञान का विद्यासागर ; नवपद साधना;
स्वरूप संबोधन-पंचविंशति —श्री अजित प्रसाद जैन ९८
श्रमण —डा० ए० एल० श्रीवास्तव १०१

हिन्दी भारती के कुछ जैन साहित्यकार;
Jain Journal; जैन न्याय की भूमिका—डा० शशि कान्त १०२
२६. समाचार विमर्श : —श्री अजित प्रसाद जैन
चमत्कार को नमस्कार १०७
क्या मिल रहा है कटुता बढ़ाने में ११०
त्रय गजरथ सहित पंच कल्याणक तथा गुरु मन्दिर स्थापना ११४
२७. अभिनन्दन ११७
२८. समाचार विविधा ११६
२६. शोक संवेदन १२५
३०. आभार १२७
३१. पाठकों की दृष्टि में १२७

मूल्य १५ रु०
वार्षिक शुल्क ४० रु० (मनीआर्डर द्वारा प्रेष्य)

निवेदन

सुधि पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा उद्‌बोधन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुंचने की सूचना भी देवें।

— सम्पादक मण्डल

आवश्यक सूचना

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक एवं अप्रकाशित लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किया जाना चाहिए। यथासम्भव लेख ३–४ टंकित पृष्ठ से अधिक न हो। **लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।**

शोधादर्श में **समीक्षार्थ** पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की **दो प्रतियां** भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु **शोधादर्श** का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक/पत्रिका सम्पादक को 'ज्योति नकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों/न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

—प्रबन्ध सम्पादक

मुद्रक : रत्न-ज्योत प्रेस, चारबाग, लखनऊ-४ (उ० प्र०)

इस अंक के लेखक

श्री अजित प्रसाद जैन : उप सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
मंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र.
पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ-२२६००४

डा० अभय प्रकाश जैन : एन-१४, चेतकपुरी, ग्वालियर-४७४००९

श्री अंशु जैन : ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

मेजर ई. एच. कैन्टीनवाला (स्व.) : तत्कालीन प्रेसीडेंट, पारसी अन्जुमन

डा० ए. एल. श्रीवास्तव : अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, सी० एम० पी०
कालेज ; ५/डी/४, लिंडिल रोड, जार्ज टाउन,
इलाहाबाद-२११००२

श्री कैलाश भूषण जिन्दल : आई० आर० एस० (अ. प्रा.), एडवोकेट
अजिताश्रम, गणेशगंज, लखनऊ-२२६०१८

डा० कृष्ण पाल त्रिपाठी : ग्राम व पोस्ट-बलीपुर टाटा,
जिला इलाहाबाद-२१२२०३

स्वामी गौरीश्वरानन्द : द्वारा श्री राम कृष्ण मिशन, अमीनाबाद,
लखनऊ-२२६०१८

भिक्षु चन्द्र रत्न : तत्कालीन प्रवक्ता, पालि, लखनऊ विश्वविद्यालय

डा. ज्योति प्रसाद जैन (स्व.) : विश्व-विश्रुत विद्वान

श्री जौहरीमल पारख (स्व.) : अधिष्ठाता, सेवा मन्दिर, रावटी, जोधपुर

सरदार त्रिलोचन सिंह भसीन (स्व.) : तत्कालीन मंत्री, सिख प्रतिनिधि बोर्ड

फादर थियो पिन्टो : द्वारा बिशप, सेंट जोजेफ कैथड्रल, हजरतगंज,
लखनऊ-२२६००१

मौलाना मुहम्मद इरफान : तत्कालीन, प्रिन्सिपल, नदवातुल-उलेमा, लखनऊ

श्री रमा कान्त जैन : उप सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

इं० राजीव कान्त जैन : डिवीज़नल इंजीनियर, पश्चिम रेलवे
५४२-ए, रेलवे आफिसर्स कालोनी, कोटा

डा० विनोद कुमार तिवारी : रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास
यू. आर. कालेज, रोसड़ा (जि० समस्तीपुर)-८४८२१०

श्री वेद प्रकाश गर्ग : १४, खटीकान, मुजफ्फरनगर-२५१००२

कु० सुधा जैन : शोध अनुसन्धात्री
जैन विश्व भारती, लाडनूं-३४१ ३०६

डा० शशि कान्त : विशेष सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

णाणं णरस्स सारं - सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श-२८

वीर निर्वाण संवत् २५२२ मार्च १९९६ ई०

गुरुगुण-कीर्तन

हरिवंशपुराणकार जिनसेन सूरि

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम् ।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां
सूर्याणामधिमण्डलं जयद्युते वीरे वराहेऽवति ।। ५२ ।।
कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा ।
पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ।। ५३ ।।
व्युत्सृष्टापरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये
व्याप्तः श्रीजिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधेपुनः ।
दृष्टोऽयं हरिवंशपुण्यचरितश्रीपर्वतः सर्वतो
व्याप्ताशामुखमण्डलः स्थिरतरः स्थेयात् पृथिव्यां चिरम् ।। ५४ ।।

डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य द्वारा हिन्दी अनुवाद आदि के साथ सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् १९६२ में प्रकाशित संस्कृत **हरिवंशपुराणम्** के अन्तिम सर्ग के उपर्युक्त अन्तिम तीन श्लोकों के अनुसार विशाल पुन्नाट संघ अन्वय में हुए श्री जिनसेन सूरि कवि ने आत्मलाभ और दूसरों को बोध देने के लिये श्रीपर्वत स्वरूप हरिवंश के पुण्यचरित को शक संवत् ७०५ (ईस्वी सन् ७८३) में वर्धमानपुर नन्नराज बस्ती के श्री पार्श्वनाथ मन्दिर

में आरम्भ किया था और उसे बाद में दोस्तटिका के शान्तिनाथ जिनालय में पूर्ण किया था। उस समय उत्तर दिशा में इन्द्रायुध, दक्षिण में कृष्णराज का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व में अवन्तिराज और पश्चिम में वत्सादिराज तथा सौरमण्डल (सौराष्ट्र) में जय वीर वराह राज्य करते थे।

इसी अन्तिम सर्ग में रचनाकार जिनसेन सूरि ने स्वयं को पुन्नाट गण के अग्रणी, व्याकरण और सिद्धान्त के पारगामी, शतजीवि आचार्य अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण मुनि का शिष्य बताया है। इसके अतिरिक्त अपना और कोई परिचय इस ग्रन्थ में जिनसेन सूरि पुन्नाट ने नहीं दिया है, और न ही अन्यत्र उनके विषय में कोई अन्य जानकारी उपलब्ध है।

पं० नाथूराम प्रेमी के अनुसार 'पुन्नाट' कर्नाटक का प्राचीन नाम है। इस पुराण में रचनाकार द्वारा दी गई अपनी गुर्वावलि में विनयधर से लेकर रचनाकार जिनसेन पर्यन्त उल्लिखित ३३ गुरुओं के नामों में से आचार्य अमितसेन को 'पुन्नाटगणाग्रणी' कहे जाने से उन्होंने यह अनुमान भी व्यक्त किया है कि आचार्य अमितसेन के पूर्व उनके गुरू जयसेन तक वह मुनि संघ पुन्नाट (कर्णाटक) में रहा और अमितसेन के पुन्नाट से आगे (बाहर) जाने के कारण वह 'पुन्नाट अग्रणी' कहलाये और उनका मुनि संघ 'पुन्नाट मुनि संघ' कहलाया।

वर्धमानपुर की पहचान डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने सौराष्ट्र के बढवाण नगर से की है और पं. नाथूराम प्रेमी तथा पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ने भी इसे मान्य किया है, किन्तु डॉ. हीरा लाल जैन ने उज्जैन से लगभग ४० मील पश्चिम में भूतपूर्व धार रियासत में अवस्थित बदनावर कस्बे के पास पाये गये कतिपय जैन लेखों में 'वर्द्धमानपुर' और 'वर्द्धनपुर' का उल्लेख होने से 'बदनावर' से उसके समीकरण को समीचीन माना है क्योंकि बदनावर को केन्द्र बिन्दु मानने पर जिनसेन सूरि द्वारा उल्लिखित तत्कालीन राजनैतिक परिदृश्य से उसकी संगति बैठती है। उनके

अनुसार उस समय वर्तमान वदनावर के उत्तर में कन्नौज से मालवा की सीमा तक इन्द्रायुध का राज्य था। उसके पश्चिम में भिन्नमाल के गुर्जर नरेश वत्सराज का राज्य था जो सम्पूर्ण मारवाड़ और गुजरात तक फैला हुआ था। उसके दक्षिण में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम का पुत्र ध्रुव धारावर्ष श्रीवल्लभ (७७९-७९३ ई.) राज्य करता था। पूर्व में मालवा (अवन्ति) राज्य था और सौरमण्डल (सौराष्ट्र) में जय वीर वराह शासन करता था। दोस्तटिका की पहचान उन्होंने वर्तमान वदनावर से १२ मील पश्चिम में मालवा और गुजरात की सीमा रेखा पर माही और वगोडी नामक दो नदियों के बीच अवस्थित वर्तमान दोस्तरीया ग्राम से की है जहाँ उस समय शान्तिनाथ जिनालय और अच्छी संख्या में जैन धर्मावलम्बी रहे होंगे।

यदत्र किञ्चिद्रचितं प्रमादतः परस्परव्याहतिदोषदूषितम्।
तदप्रमादास्तु पुराणकोविदाः सृजन्तु जन्तुस्थिति शक्तिवेदिनः ।। ३४ ।।
प्रशस्तवंशो हरिवंशपर्वतः क्व मे मतिः क्वाल्पतराल्पशक्तिका।
अनेन पुण्यप्रभवस्तु केवलं जिनेन्द्रवंशस्तवनेन वाञ्छितः ।। ३५ ।।
न काव्यबन्धव्यसनानुबन्धतो न कीर्तिसन्तानमहामनीषया।
न काव्यगर्वेण न चान्यवीक्ष्या जिनस्य भक्त्यैव कृता कृतिर्यथा ।। ३६ ।।

हरिवंशपुराण के अन्तिम सर्ग के उपर्युक्त श्लोकों में कवि द्वारा व्यक्त किये गये उद्गार उसकी विनम्रता, निरभिमानता और जिनभक्ति के द्योतक हैं और **भक्तामर स्तोत्र** के रचनाकार मानुतुङ्गाचार्य की निम्नोक्त पंक्ति का स्मरण कराते हैं—

'अल्प-श्रुतं श्रुतवतां परिहास-धाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।'

अनुष्टुप, आर्या, उपाजाति, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वंशस्थ, वसन्ततिलका, शालिनी, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि विभिन्न वार्णिक वृत्तों व छन्दो में ८९२१

श्लोकों में निबद्ध और ६६ सर्गों में बिभाजित **हरिवंशपुराण** एक विशालकाय ग्रन्थ है। इसके सर्ग ३९ में नेमि जिनेन्द्र के स्तवन के प्रसंग में 'वृत्तानुगन्धिगद्यम्' का स्वल्प प्रयोग कर रचनाकार ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह कुशल गद्यकार भी थे। उनका गद्य बाणभट्ट की शैली का स्मरण कराता है।

इस पुराण के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अंकित पुष्पिका वाक्य 'इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ ... ...' से कवि का अभीष्ट हरिवंश में हुए अरिष्टनेमि की पुराण कथा का वर्णन होते हुए भी यह वहीं तक सीमित नहीं है। इस विपुल पुराण में कवि ने हरिवंश में हुए नेमिनाथ के समकालीन अन्य महापुरुषों और घटनाओं के विशद वर्णन के साथ त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन किया है। तीर्थंकरों में ऋषभ, नेमि और महावीर का विराट वर्णन है।

वर्द्धमान महावीर का निर्वाण कल्याणक मनाये जाने का वर्णन करते हुए उससे दीपावली उत्सव प्रारम्भ होने का दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम साहित्यिक उल्लेख इस पुराण में मिलता है। पुराणकार ने महावीर निर्वाण के उपरान्त ६८३ वर्ष में हुए ३ केवलियों, ५ श्रुतकेवलियों, ११ दश पूर्वधारियों, ५ दस अंगधारियों और ४ आचारांगधारियों की नामावली भी दी है। इस प्रकार यह पुराण जैन आचार्य (दिगम्बर) परम्परा को बताने वाला एक प्रामाणिक ग्रन्थ लगता है।

मुख्य वर्ण्य विषय महाभारतकालीन होते हुए भी और वसुदेव, कृष्ण, बलराम, कंस, जरासंध, पाण्डवों आदि का काफी वर्णन करते हुए भी महाभारत युद्ध की घटना इसमें गौण रही। पुराण कथा कहने के साथ-साथ अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को उद्घाटित करने वाले इस महाग्रन्थ के सर्ग ४ से ७ में 'लोकालोक' का विशद वर्णन है। इसी प्रकार सर्ग ५८ में भगवान नेमिनाथ की

दिव्यध्वनि के प्रसंग में जीव, अजीव आदि सात तत्वों का विस्तृत विवेचन हुआ है।

इस पुराण के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में चौबीस तीर्थंकरों और पञ्चपरमेष्ठियों का नमन कर जिन विद्वान आचार्यों और उनकी कृतियों का सादर स्मरण जिनसेन सूरि पुन्नाट ने किया है, वे हैं : समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, जटासिंहनन्दी, विशेषवादि, कुमारसेन, प्रभाचन्द्र, वीरसेन और **पार्श्वाभ्युदय** के कर्ता जिनसेन स्वामी। **हरिवंशपुराण** के रूप में एक महान ज्ञानकोशात्मक ग्रन्थ के प्रदाता, बहुश्रुत कुशल कवि और इतिहास भावना से ओत-प्रोत पुराणकार, विभिन्न अवान्तर कथाओं के माध्यम से तत्त्वज्ञान आदि के साथ-साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति को उद्घाटित करने वाले, परम जिन भक्त निरभिमानी जिनसेन सूरि पुन्नाट जो दूसरों की गाथा कहते हुए अपने विषय में प्रायः मौन रहे, के प्रति अपनी विनयाञ्जलि निम्नवत अर्पित है—

हरिवंश सरोजन को तुम ही रवि हो।
गुणवन्त, महन्त तुम ही कवि हो॥
तुम आराध्य चरण आराधक हो।
तुम पूर्वजों के कीर्ति प्रकाशक हो॥
पर - गाथा कहने में तुम लवलीन रहे।
आत्मश्लाघा विरत रहने में तुम प्रवीन रहे॥
पुन्नाटसंघ के तुम ऐसे मुनिपुङ्गव हो।
जिनभक्त 'जिनसेन' अभिहित तुम हो॥
निरभिमानी तुम्हें करता मैं सादर नमन।
तुम्हारे चरनन में धरता 'रमाकान्त' श्रद्धा सुमन॥

—रमा कान्त जैन

सम्पादकीय

प्रथम इतिहास पुरुष

आदि धर्मगुरू, आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव, यदि सम्पूर्ण मानव समाज के नहीं, तो कम से कम हमारे देश के तो प्रथम इतिहास पुरुष हैं ही। उन्होंने प्रकृति जन्य कल्प वृक्षों (वन सम्पदा) पर ही अपनी मूलभूत जीवनीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्णतया निर्भर, वनों में विचरण करते मानव समूहों को सभ्यता का प्रथम पाठ पढ़ाया, उन्हें एक समाज के रूप में संगठित हो कर जीना सिखलाया। यद्यपि उनके पूर्व असंख्यात वर्षों के अन्तराल से १४ कुलकर पैदा हो चुके थे जो अपने-अपने समय के विशेष प्रत्युत्पन्नमति मेधावी नर श्रेष्ठ थे तथा जो अपने समय के मानवों की मूलभूत समस्याओं का समाधान करते रहे थे, तथापि आदि पुरुष के रूप में भगवान ऋषभदेव का ही स्मरण किया जाता है क्योंकि उन्होंने ही मानव को श्रम करने का पाठ पढ़ाया, पुरुषार्थ के द्वारा सुख-सुविधा की मनोवांछित सामग्री प्राप्त करने का मार्ग दिखाया, श्रम संस्कृति की नींव डाली। मानव ने आटवी संस्कृति से उबरकर ग्राम्य संस्कृति में पग धरा।

वनचर मानव को ग्राम बना कर आपसी सहयोग एवं सौहार्द के आधार पर एक सुगठित समाज के रूप में जीवन यापन करने की प्रेरणा देने वाले प्रथम समाज शास्त्री, समाज को सुस्थिर बनाए रखने के लिए नियम-कानून बनाने वाले आदि सुविधि कर्तार तथा ग्राम में, मानव वस्ती में, नियम-कानून का प्रभावी ढंग से अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए 'शासन तन्त्र का संचालन करने बाले इस अवसर्पिणी महा कालखण्ड के वे प्रथम शासक या राजा थे। वे ही प्रथम किसान थे जिन्होंने कृषि का आविष्कार किया और मानवों की बढ़ती जन संख्या तथा अनवरत दोहन के परिणाम स्वरूप कम पड़ती जा रही वन सम्पदा पर निर्भर न रह कर खेती से अन्न उपजाने की

कला सिखाई, बैल को पालतू बना कर उसका कृषि तथा सवारी के काम में उपयोग करना सिखाया, वे ही प्रथम कुम्हार, बढ़ई, इंजीनियर, वास्तुविद, वैज्ञानिक एवं आविष्कारक थे जिन्होंने न केवल भाषा, लिपि और अंक विद्या विकसित की तथा मानवों को सिखाई वरन् अन्य सभी लोक रंजक कलाओं का भी सूत्रपात किया। उन्होने ही सर्वप्रथम विवाह की सामाजिक प्रथा का प्रारम्भ किया तथा मानवों को तत्कालीन युगलिया संस्कृति से ऊपर उठने की प्रेरणा दी व स्वैर यौनाचार पर रोक लगाई।

आदि मानव को सभ्यता का प्रथम पाठ पढ़ाने वाले भगवान ऋषभदेव के इस धरा पर अवतरण की काल तिथि निश्चित करना सरल नहीं है। किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मानव सभ्यता के इतिहास का प्रथम पृष्ठ भगवान ऋषभदेव से ही प्रारम्भ होता है। ऋग्वेदादि प्राचीनतम वैदिक साहित्य में भगवान ऋषभदेव का उल्लेख बड़े गौरव एवं सम्मान के साथ किया गया है।

जैन पौराणिक कथ्यों के अनुसार अनन्त काल-चक्र दो महा कालखण्डों में विभाजित है—(१) उत्सर्पिणी काल (या उदीयमान संस्कृति का काल खण्ड) तथा (२) अवसर्पिणी काल (या ह्रीयमान संस्कृति का कालखण्ड)। घड़ी के पैण्डुलम के समान एक महा काल-खण्ड के बाद दूसरा तथा दूसरे के बाद पहला स्वतः आता रहता है। प्रत्येक महा कालखण्ड छह आरों या कालों में विभक्त है जिनका परिमाण निम्न प्रकार कहा गया है :—

प्रथम काल — चार कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष
द्वितीय काल— तीन कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष
तृतीय काल — दो कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष
चतुर्थ काल — ४२ सहस्र वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष
पंचम काल — २१ सहस्र वर्ष
छठा काल — २१ सहस्र वर्ष
कुल — १० कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष

सागर का परिमाण अंको की संख्या में व्यक्त करना संभव नहीं है, यह असंख्यात है। प्रथम तीन काल में भोगभूमि का प्रवर्तन रहता है (इतिहासकार इन्हें पूर्व पाषाण काल तथा पाषाण काल की संज्ञा से परिभाषित करते हैं) तथा अन्तिम तीन में कर्मभूमि का। प्रत्येक काल का अन्तिम एक-तिहाई अंश संक्रमण काल होता है जिसमें अगले काल के प्रभाव भी लक्षित होने लगते हैं। वर्तमान में अवसर्पिणी महा कालखण्ड का पंचम काल चल रहा है जिसके २५२० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

तृतीय काल के अन्तिम एक-तिहाई अंश में ही कुलकरों का जन्म होता है तथा कर्म भूमि का मार्ग प्रशस्त होता है। जब तृतीय काल की समाप्ति में ८४ लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रह गये थे तब भगवान ऋषभदेव का अवतरण हुआ। उनके पिता अन्तिम कुलकर नाभिराय थे तथा माता मरुदेवी थीं। उनकी आयु ८४ लाख पूर्व वर्षों की थी। पूर्व का परिमाण सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष बताया गया है। हमारी समझ में इन आंकड़ों के माध्यम से पुराणकार का आशय मात्र यह दर्शाना है कि मानव सभ्यता के सूत्रधार भगवान ऋषभदेव को जन्मे असंख्यात वर्ष हो गए तथा उनका जीवन काल भी अत्यन्त दीर्घ था, तभी वे पुरुषोचित एवं स्त्रियोचित प्रायः सभी कलाओं को सतत प्रयोग द्वारा विकसित करने में समर्थ हुए।

ऋषभ कुमार अत्यन्त मेधावी तथा अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे। बीस लाख पूर्व की वय में उनका विवाह कच्छ और महाकच्छ की नन्दा व सुनन्दा नाम की दो अनिद्य सुन्दरी पुत्रियों के साथ हुआ। श्वेताम्बर अनुश्रुति के अनुसार उनका विधिवत् विवाह केवल एक ही कन्या के साथ हुआ था और इसी से मानव समाज में विवाह प्रथा का सूत्रपात हुआ। किंवदन्ती है कि किसी बाला के युगलिया साथी की वन में क्रीड़ा करते समय ताड़फल के सिर पर गिर जाने से अकाल मृत्यु हो गई। अकाल मृत्यु की भी यह पहली ही घटना थी,

उस बाला को उद्विग्न दशा में एकाकी विचरण करते देख ग्रामीण जन उसे अन्तिम कुलकर नाभिराय के पास लेकर गए जिन्होंने उन्हें उस बाला की समस्या के समाधान के लिए ऋषभ कुमार के पास भेज दिया। ऋषभ कुमार ने उस बाला से विधिवत् विवाह करके उसे सामाजिक सुरक्षा एवं मान्यता प्रदान की। इस अनुश्रुति के अनुसार उनकी प्रथम पत्नि नन्दा तो उनके साथ युगलिया जन्मी थी ही।

भगवान ऋषभदेव प्रथम मर्यादा पुरुषोत्तम थे। उनके आचरण को ही आदर्श मान कर मानव समाज में प्रथम बार मर्यादाएं स्थापित हुईं। इसलिए हमारा भी यह अनुमान है कि उन्होंने विधिवत् विवाह केवल एक ही कन्या के साथ किया होगा, अन्यथा लोक में दो विवाह करने की प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित होगी। उनके पुत्रों के तथा परवर्ती काल व अन्य पुरुषों के द्वारा एक या अनेक विवाह करने के ही उल्लेख मिलते हैं, दो विवाह करने के उदाहरण तो विरल ही मिलेंगे।

भगवान ऋषभदेव की प्रथम पत्नि से युगलिया जन्मे पुत्र भरत व पुत्री ब्राह्मी के अतिरिक्त ९८ पुत्र तथा दूसरी पत्नि से बाहुबलि पुत्र तथा सुन्दरी पुत्री का युगलिया जन्म हुआ। दिगम्बर जैन पौराणिक साहित्य भगवान के सन्तानोत्पत्ति काल के विषय में मौन हैं पर श्वेताम्बर आगमिक साहित्य में यह काल छह लाख पूर्व से कुछ कम वर्षों का माना गया है।

मानव समाज आपसी सहयोग एवं सौहार्द की भावना के साथ सुचारु रूप से चलता रहे, इसके लिए ऋषभ कुमार ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा एवं दूरदृष्टि से आवश्यक नियम-उपनियम बना दिये थे, किन्तु समाज के अग्रजनों ने महसूस किया कि तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों में तथा मानवों के मन में बढ़ती विकृतियों के कारण अब यह आवश्यक हो गया था कि सामाजिक नियम-

उपनियमों का अनुपालन सुनिश्चित करने के लिये किसी एक व्यक्ति में शासन सत्ता एवं अपराधी को दण्ड देने के अधिकार निहित कर दिये जायें। अतः सब अग्रजन नाभिराय कुलकर के पास गये तथा उनसे शासन सत्ता सम्हालने का अनुरोध किया। नाभिराय ने यह कह कर कि मैं तो अब इस कार्य के लिये बहुत वृद्ध हो गया हूँ, उन्हें ऋषभ कुमार से अनुरोध करने का परामर्श दिया। अग्रजनों ने ऋषभ कुमार से प्रथम शासक-नियामक बनने का अनुरोध किया जिसे उन्होंने स्वीकार किया। इस प्रकार ऋषभ कुमार सब प्रजाजनों की सहमति से मानव समाज के प्रथम राजा अभिषिक्त हुए। उनकी आयु उस समय २० लाख पूर्व की थी।

जिस स्थल पर भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ था, उसे ही केन्द्र बिन्दु बना कर मानवों की प्रथम बस्ती ग्राम के रूप में बसी जिसने धीरे-धीरे विकसित होकर एक महाग्राम या नगर का रूप ले लिया। यह नगरी अयोध्या या विनीता के नाम से विख्यात हुई तथा राजा ऋषभदेव के शासन की केन्द्र विन्दु राजधानी बनी।

अगले ६३ लाख पूर्व वर्षों में राजा ऋषभदेव संसार के सभी भोगोपभोगों का पूर्ण रस के साथ आनन्द लेते हुए प्रजा का सन्तानवत् पालन करते रहे। फिर एक दिन नृत्यांगना को नृत्य करते यकायक काल कवलित हो जाते देखकर उन्हें संसार की नश्वरता का बोध हो गया तथा संसार के भोगोपभोगों से वैराग्य हो गया। ज्येष्ठ पुत्र भरत को अयोध्या का तथा अन्य ९९ पुत्रों को अन्य ग्रामों-नगरों का अधिपति बना कर तथा समस्त ऐश्वर्य को त्याग कर वे अयोध्या के बाहर वन प्रान्तर में चले गये तथा सिद्धों को नमस्कार कर मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली, सब परिग्रह त्याग कर दिगम्बर वेश धारण कर लिया तथा समाधिस्थ हो गए। छह मास की उपवास अवधि समाप्त होने पर वे भिक्षाटन के लिए विचरण करने लगे। ऋषभदेव **प्रथम भिक्षाचर** हुए पर वे किसी से भिक्षा की याचना नहीं करते थे। अतः जहाँ कहीं भी वे जाते, ग्राम-

नगर वासी उनका अनेक प्रकार से आदर सत्कार करने का प्रयास तो करते पर किसी का ध्यान इस ओर नहीं जाता था कि उन्हें भोजन की भी आवश्यकता हो सकती है। छह मास से कुछ अधिक समय तक विचरण करते हुए वे अन्त में हस्तिनापुर पहुंचे जहाँ उनके पौत्र तथा बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ राज्य करते थे। सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांस कुमार ने महल के झरोखे से अपने प्रपितामह मुनि ऋषभ देव को मलिनमुख आते देखा। तभी सेवक ताजे इक्षुरस के घड़े भर कर लाए थे। श्रेयांस कुमार दौड़ कर नीचे आए तथा मुनिराज से अत्यन्त भक्ति पूर्वक इक्षुरस ग्रहण करने की प्रार्थना की, मुनिराज अंजुलिबद्ध करके खड़े हो गये जिसमें उन्होंने श्रेयांस कुमार द्वारा डाली गई ईक्षुरस की धारा को ग्रहण कर अपने वर्षी तप का पारणा किया। यह शुभ दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था जो लोक में अक्षय तृतीया के महान् पर्व के रूप में विख्यात हुई। इस प्रकार दान तीर्थ की स्थापना हुई। यह धर्म तीर्थ की स्थापना के एक वर्ष कम एक हजार वर्ष पूर्व की घटना है। यह पर्व जैन समाज के सभी सम्प्रदायों द्वारा बड़े उल्लास के साथ मनाया जाता है तथा किसी सुपात्र को इस दिन आहार दान देने में विशेष पुण्यार्जन माना जाता है।

एक सहस्र वर्ष तक मौन सहित साधनारत रहने के उपरान्त पुरिमताल नगर (प्रयाग) में वट वृक्ष के नीचे भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। वे शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ अर्हन्त परमेष्ठी हो गए। भगवान का प्रथम समवशरण (धर्म सभा) जुटा तथा भगवान की दिव्य देशना के साथ इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम धर्म तीर्थ की स्थापना हुई। भगवान का बोधि वृक्ष लोक में अक्षय वट के नाम से विख्यात हुआ क्योंकि भगवान को इसके नीचे केवल ज्ञान रूपी अक्षय सुख की प्राप्ति हुई।

एक सहस्र वर्ष कम एक लाख पूर्व वर्षों तक विभिन्न देशों प्रदेशों में विहार करते हुए आदि जिन परम गुरु भगवान ऋषभदेव

ने धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया तथा अन्त में माघ कृष्णा चतुर्दशी को कैलाश पर्वत से इस पौदगलिक देह को त्याग कर निर्वाण पद को प्राप्त किया। श्वेताम्बर साहित्य में भगवान की मोक्ष स्थली को अष्टापद कहा गया है। अति प्राचीन निर्वाण काण्ड स्तोत्र में भी आदीश्वर स्वामी की निर्वाण स्थली अष्टापद ही कही गयी है। हमारी समझ में कैलाश पर्वत के जिस शिखर पर भगवान का निर्वाण हुआ उसका आकार अष्टपाद रूप रहा होगा।

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने जब निर्वाण प्राप्त किया उस समय तृतीय काल की समाप्ति में तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रह गए थे। सामान्यतया तीर्थंकरों का जन्म व निर्वाण चौथे काल में ही होता है। ऋषभदेव का जन्म व निर्वाण तीसरे काल में होना वर्तमान हुण्डावसर्पिणी महा कालखण्ड का एक अछेरा कहा गया है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का निर्वाण भी पंचम काल के प्रारम्भ होने के तीन वर्ष साढ़े आठ माह पूर्व हुआ था।

अनेक विद्वानों का मत है कि आदीश जिन को ही कालान्तर में एक वर्ग द्वारा शिव के वर्तमान रूप में पूजा जाने लगा। वैदिक परम्परा के साहित्य **(ईशान संहिता)** में माघ कृष्णा चतुर्दशी को आदि देव का शिव लिंग रूप में उद्भव होना माना गया है। भगवान ऋषभदेव ही ब्रह्मा के नाम से भी विख्यात हुए। आचार्य जिनसेन ने **महापुराण** में आदि जिन के नामों में **हिरण्यगर्भ** (गर्भ में आने के छह मास पूर्व से इन्द्रादिक देवों द्वारा स्वर्ण-रत्न वर्षा करने के कारण), **प्रजापति** (कल्प वृक्ष नष्ट होने पर कृषि असि मसि आदि कर्मों में पुरुषार्थ कर के जीवन यापन का उपदेश देने तथा प्रथम राजा बनकर प्रजापालक होने के कारण), **लोकेश** (समस्त लोक के स्वामी), **नाभिज** (नाभिराय के पुत्र), **चतुरानन** (समवशरण में चारों ओर से आपके दर्शन होने के कारण), **स्रष्टा** (ग्राम व नगर आदि की सृष्टि करने तथा विवाह प्रथा के आद्य प्रवर्तक होने के

कारण), **स्वयंभू** (बिना किसी गुरू के स्वयं ही अपनी साधना से बोधि प्राप्त करने के कारण) नाम गिनाए हैं जो सब ब्रह्मा के भी नाम कहे जाते हैं। **श्रीमद्भागवत** में ऋषभदेव को **यज्ञ पुरुष विष्णु** का अवतार माना गया है। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव की ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में एक वर्ग द्वारा प्रतिष्ठा की गई ऐसा अनेक विद्वान मानते हैं तथा प्राचीनतम साहित्य से ऐसे संकेत मिलते हैं।

मोहनजोदड़ो आदि की खुदाई में प्राप्त प्राचीनतम सीलों पर अंकित योगी की आकृति को अनेक पुरातत्वविदों एवं मनीषियों ने भगवान ऋषभदेव को ही अंकित किया गया माना है। चैत्र कृष्णा नवमी को इस धरा पर अवतरित आदि-जिन आदि-पुरुष, आदि-सुविधिकर्तार, आदि-धर्मगुरू, आदि-ब्रह्मा, आदि-विष्णु, आदि-शिव भगवान ऋषभदेव को हम कोटि-कोटि नमन करते हैं।

—अजित प्रसाद जैन

श्री महावीर वचनामृत

अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाणय दुहाणय।

आत्मा स्वयं अपने सुख और दुख का कर्ता और हर्ता है।

जहाकडं कम्मं तहासि भारे।

जैसा कर्म किया जाता है, उसका वैसा ही फल भोगना होता है।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।

कर्म करने वाले के पीछे-पीछे ही चलते हैं।

णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्त-हत्थिस्स।

चित्त रूपी उन्मत्त हाथी को वश में करने के लिये ज्ञान अंकुश समान है।

मानव धर्म : प्रास्ताविक

वैज्ञानिक अभी यह स्थिर नहीं कर पाये हैं कि जीवनी शक्ति क्या है, आत्मा की सत्ता है भी कि नहीं, मानव-जीवन का अन्तोगत्वा अर्थ एवं उपयोग क्या है, और संसार क्रम का क्या हेतु एवं उसकी क्या उपादेयता है ।

मनोवैज्ञानिक इस बारे में अवश्य एकमत हैं कि मनुष्य अन्य प्राणियों से अपनी विचार एवं चिन्तन करने की शक्ति या सामर्थ्य के कारण विशिष्ट है । इस धारणा का मनुष्य अपने आदिम युग से ही पोषण करता चला आया प्रतीत होता है । हर काल और क्षेत्र के मनीषी इसी आधार पर नयी व्यवस्थायें देते रहे हैं, और आज जो सांस्कृतिक विविधता, वैज्ञानिक प्रगति एवं सदाचार-दुराचार का ताना-बाना हम देखते हैं, यह उसी का परिणाम है ।

मनुष्य विचार करता है, अपने विचारों का प्रसार करता है । ऐसी अवस्था में विचार-वैभिन्य तो होना ही चाहिए, विचार-वैषम्य भी होता है । जहाँ विभिन्नता स्वस्थ चिन्तन को प्रेरणा देती है, विविधता द्वारा एकरसता का निरसन करके सजीवता का संचार करती है, विषमता संघर्ष को जन्म देती है और आगे बढ़ने के मार्ग में रुकावट पैदा करती है । इसीलिए सभी ऐसे चिन्तकों ने जिनके लिए मानव-कल्याण की भावना सर्वोपरि रही है, सत्य-निष्ठा, सदाचार और समन्वय पर जोर दिया है ।

जब-जब और जहाँ-जहाँ सत्य-निष्ठा सदाचार और समन्वय के प्रति शिथिलता हुई, सामाजिक जीवन में असमानता, विषमता और संघर्ष बढ़ा तथा चली आ रही व्यवस्था को बदलने की आवश्यकता उपस्थित हुई । नयी व्यवस्था को देने वाले तीर्थंकर, अवतार, बुद्ध, मसीहा, पैगम्बर या गुरु कहलाये । उन सभी ने अपने-अपने ढंग से सदाचार और समन्वय की भावना पर जोर दिया, मनुष्य की मनुष्यता को ललकारा, और व्यक्ति की प्रतिष्ठा, समाज

में समता एवं विभिन्न समुदायों में शांति स्थापित करने के प्रयत्न किये।

उन सबका उद्देश्य एक था। उनके सिद्धान्तों में जो विषमता दिखलायी जाती है, वह शाब्दिक है और यह कहने में भी सम्भवतः अत्युक्ति न होगी कि यह शब्द-जाल बाद के परम्परा-पोषकों द्वारा अपना अलग अस्तित्व बनाये रखने का एक आडम्बर था। हमारे आधुनिक मनीषियों ने इसीलिए 'धर्म' और 'संगठित धर्म' में अन्तर करने की भी आवश्यकता अनुभव की।

मोटे रूप में, धर्म अन्तः चेतना का ही वास्तविक रूप है जो सत्य, समन्वय और शांति को खोजती है, सुन्दर से प्रभावित होती है और शिव की ओर अग्रसर होती है। 'सर्व जन सुखाय, सर्व जन हिताय' इसकी प्रवृत्ति होती है। इस अन्तः चेतना के प्रस्फुटन के विभिन्न स्रोतों का जब हमें ज्ञान होगा तभी हम उसके प्रेरक भाव को समझने में समर्थ होंगे और जो साम्प्रदायिक वैषम्य हमें ऊपर से दीख पड़ता है उसे चीरकर अन्तर में स्थित समता, समन्वय, एकता और शान्ति का अनुभव कर सकेंगे।

इसी भावना से प्रेरित होकर हमने ७ फरवरी १९६५ को यह प्रयास किया किया था कि भारत में प्रचलित विश्व के प्रमुख धर्मों के मनीषी एक प्लेटफार्म पर एकत्रित होकर व्यक्ति के आचार और विश्व-शान्ति को दृष्टि में रखते हुए अपने धर्म के मूल सिद्धांतों का निरुपण करें ताकि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में व्यक्तिगत सदाचार, समन्वय एवं शांति का प्रतिष्ठापन करने में हमें कुछ मार्ग-दर्शन मिल सके। इस अखिल मानव धर्म सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए भारत सेवक समाज के तत्कालीन अध्यक्ष श्री आत्माराम गोविन्द खेर ने निम्नलिखित उद्‌गार प्रकट किये थे—

"देश, काल और समाज की परिस्थितियों के अनुसार अनेक

धर्म पृथक-पृथक नामों से माने जाने लगे, परन्तु हर धर्म की मूलभूत भावना समाज में एकता, सहयोग और भ्रातृभाव स्थापन करने की रही है। यदि अनेक धर्म के ज्ञाता इस प्रकार के सम्मेलनों में एकत्र होकर अपने-अपने धर्म की अच्छाइयाँ और विशेषतायें स्पष्ट करने का प्रयत्न करें और दूसरों की विचारधाराओं को सहानुभूति पूर्वक समझने का प्रयत्न करें तो सभी धर्म मानव समाज को प्रेम के सूत्र में बांधकर उसके उत्कर्ष में सहायक हो सकेंगे। फिर विश्व-बन्धुत्व के आधार पर समाज रचना होना सम्भव भी होगा और स्थायी विश्वशांति कायम होकर संसार को डर से मुक्ति भी मिल सकेगी।"

जैन धर्म का परिचयात्मक विवेचन डा० ज्योति प्रसाद जैन ने, वैदिक-हिन्दू धर्म का स्वामी गौरीश्वरान्द ने, पारसी धर्म का मेजर ई. एच. कैन्टीनवाला ने, बौद्ध धर्म का भिक्षु चन्द्ररत्न ने, ईसाई धर्म का फादर थियो पिन्टो ने, इस्लाम धर्म का मौलाना मुहम्मद इरफान ने और सिख धर्म का सरदार त्रिलोचन सिंह भसीन ने प्रस्तुत किया था। ये सभी विवेचन क्रमशः अगले पृष्ठों में दिये जा रहे हैं।

[हमारे पाठकों को विदित है कि भगवान महावीर की अनेकान्त दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में दिनांक ३ जून, १९९५, को भी हमने एक संगोष्ठी का आयोजन किया था जिसमें अधिकारी प्रबुद्ध विद्वानों ने विश्व के उक्त प्रमुख धर्मों के मुख्य धर्म-ग्रन्थों के लिपिकरण और पुस्तकीकरण के सम्बन्ध में अधिकारिक वस्तुपरक जानकारी दी थी। उसका विवरण **शोधादर्श**–२६ में पृ० १४३–६९ पर दृष्टव्य है।]

–डा० शशि कान्त

जैन धर्म

—डा० ज्योति प्रसाद जैन

समस्त आत्मिक विकारों पर पूर्णतया विजय प्राप्त करने वाले महान आध्यात्मिक विजेता 'जिन' या 'जिनेन्द्र' कहलाते हैं, और दुःख पूर्ण जन्म-मरण रूप संसार सागर से पार करने वाले सुखद धर्म-तीर्थ की स्थापना एवं प्रवर्त्तन करने के कारण वे 'तीर्थङ्कर' कहलाते हैं। उनका मार्ग स्वपुरुषार्थ द्वारा श्रमपूर्वक आत्मशोधन का है अतएव वे 'श्रमण' भी कहलाते हैं। इन्हीं श्रमण तीर्थङ्करों द्वारा स्वयं आचरित एवं 'सर्व सत्त्वानां हिताय सुखाय' उपदेशित धर्म व्यवस्था का नाम ही जैन धर्म है।

जैन धर्म और उसकी श्रमण संस्कृति विशुद्ध भारतीय हैं। यह धर्म परम्परा भारतीय संस्कृति की उस अत्यन्त प्राचीन श्रमण धारा का प्राचीनतम जीवित प्रतिनिधि मानी जाती है जो मूलतः अवैदिक थी और संभवतया अनार्य एवं प्रागार्य भी थी। उसका सीधा संबंध भारतवर्ष के मध्य देश की आद्य मानव परम्परा एवं वेदकालीन व्रात्य क्षत्रियों की प्राचीन मागध संस्कृति से है।

यह धार्मिक परम्परा स्वयं में सर्वांगपूर्ण है और एक अत्यन्त विकसित धर्म के समस्त अंगों से समन्वित है। उसकी प्राचीनता, मौलिकता एवं स्वतन्त्र सत्ता विद्वत्जगत में सर्वमान्य हो चुकी है।

जैन मान्यता के अनुसार यह चराचर विश्व अनादि-निधन एवं शाश्वत है और अपने प्राकृतिक नियमों से स्वतः नियंत्रित है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत् रूप छः द्रव्यों से वह निर्मित है और वे ही उसके उपादान हैं।

लोक में विद्यमान जो अनन्तानन्त जीवात्मायें हैं उनके दो भेद हैं—मुक्त आत्मा व संसारी आत्मा। जिन आत्माओं ने अपनी साधना द्वारा अपने शुद्ध रूप को प्रकट कर लिया है और इसी मनुष्य देह में जिन्होंने स्व पुरुषार्थ द्वारा परम प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया है वे

'अरहंत केवली' कहलाते हैं और तदनन्तर उसी भव में निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करके अशरीरी, अरूपो, निर्विकार, निराकार, शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्द चैतन्य पिंड स्वरूप सिद्धत्व को प्राप्त होते हैं एवं मुक्त आत्मायें कहलाते हैं। जैन धर्म में ये 'अरहंत' और 'सिद्ध' ही परम उपास्य हैं। वे संसार से पार हो चुके होते हैं, उसमें फिर कभी नहीं लौटते।

इस दुःख रूप संसार से छुटकारा पाने का नाम मोक्ष या निर्वाण है। और इसी मुक्ति का मार्ग सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय है।

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान है, अथवा यह कहें कि वह अध्यात्म प्रधान है। दोनों का अभिप्राय एक ही है कि संसार देह भोगों में—समस्त वाह्य पदार्थों में—दौड़ती रहने वाली अपनी प्रवृत्तियों को रोक कर उन्हें आत्मस्थ करना, बहिर्मुखी के स्थान पर उन्हें अन्तर्मुखी करना।

जैन दृष्टि से वस्तु-स्वभाव का नाम ही धर्म है। जो जिस वस्तु का परानपेक्ष स्वभाव है वही उसका धर्म है। इस चैतन्य विशिष्ट जीव या आत्मा का धर्म अथवा स्वभाव शांत निराकुलता है, ज्ञान और दर्शन है।

स्थूल रूप से जैन धर्म की छः प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) **आत्मिक साम्यवाद**—विश्व में जितने भी जीवित प्राणी हैं वे सब आत्म विशिष्ट हैं और उनकी सबकी आत्मायें अपने स्वरूप, स्वभाव एवं निहित शक्ति की दृष्टि से परस्पर में सर्वथा समान है। लिंग, वर्ण, जाति, गति, योनि, ऊँच-नीच आदि का कोई भेद एक आत्मा को दूसरी आत्मा से, एक प्राणी को दूसरे प्राणी से, भिन्न नहीं करता।

(२) **व्यक्तिवाद**—आत्म-कल्याण के मार्ग में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र एवं स्वनिर्भर है, कोई भी अन्य व्यक्ति या शक्ति उसमें साधक

या वाधक मात्र उपचार से ही होता है। वास्तव में व्यक्ति का स्वयं का पुरुषार्थ ही उसमें साधक होता है।

(३) **आशावाद**—कितनी ही क्षुद्रतम एवं निकृष्टतम अवस्था या परिस्थिति में कोई प्राणी किसी समय क्यों न हो, यदि वह दृढ़ निश्चय कर ले और पूर्ण आत्म विश्वास के साथ आत्मोन्नति में तत्पर हो जाये तो संसार की कोई भी शक्ति उसके आत्मोत्कर्ष एवं आत्म कल्याण को नहीं रोक सकती क्योंकि प्रत्येक प्राणी में परमात्मत्व को प्राप्त करने की शक्ति समान रूप से अन्तर्निहित है, और उसको व्यक्त करने में वह ही स्वयं समर्थ है।

(४) **परीक्षा-प्रधानता या युक्तिवाद**—यह मानसिक दासत्व का विरोधी है और आग्रह करता है कि प्रत्येक तत्त्व को युक्ति और प्रमाण द्वारा भली भांति परख कर सब ग्रहण करें।

(५) **स्याद्वाद या अनेकांतवाद**—जैन दर्शन यह प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है—उसके अनेक पहलू हैं। सभी सम्भव दृष्टिकोणों से उस पर विचार करना आवश्यक है। दूसरों के दृष्टिकोणों को सहृदयता एवं सहानुभूति के साथ जानने, समझने और सराहने की प्रवृत्ति का यह स्याद्वाद परम पोषक है। यह व्यक्ति को परम सहिष्णु बना देता है और सह-अस्तित्व के सिद्धांत को कार्यान्वित करने में सर्वाधिक समर्थ होता है।

(६) **अहिंसावाद**—आत्मा स्वभावतः पूर्ण अहिंसक है। सभी आत्मायें समान हैं—अपनी अनुभूतियों में भी, वे समान रूप से सुख दुःख अनुभव करती है। अतः जिसे हम अपने लिए दुःखद, कष्टकर एवं अनिष्टकारी समझते हैं उसे दूसरों के लिए भी वैसा ही समझें और उससे विरत हों। मानव-मानव में परस्पर सौहार्द स्थापित करने वाली और विश्व में स्थायी शांति का साम्राज्य प्रसारित करने वाली यह जैनी जीवन दृष्टि है। समस्त जैनाचार इस अहिंसा सिद्धांत पर ही आधारित है।

उपरोक्त जीवन-दर्शन को मानवधर्म का मूलाधार कहा जा सकता है। मनुष्य के व्यवहारिक जीवन और पारस्परिक सम्बन्धों को समुन्नत बनाना इसका लक्ष्य है।

वैदिक-हिन्दू धर्म

—स्वामी गौरीश्वरानन्द

हिन्दू धर्म अति प्राचीन है। यह प्रागैतिहासिक युग से चला आता है।

हिन्दू धर्म की उत्पत्ति श्रुति या वेद से है। वेदों का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक सत्यों का संचित कोष। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और जीवात्मा का परमात्मा के या परमपिता के साथ जो नैतिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्ध है, वे उनके आविष्कार के पूर्व भी थे और हम यदि उन्हें भूल भी जायें तो भी बने रहेंगे। इन नियमों या सत्यों का आविष्कार करने वाले ऋषि कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व तक पहुंची हुई आत्मा मानकर सम्मान देते हैं। इन महानतम ऋषियों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। उसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। हिन्दुओं की यह धारणा है कि आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, किन्तु जिसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है। वह आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण और अनन्त है, और मृत्यु का अर्थ है एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केन्द्र परिवर्तन। वर्तमान अवस्था हमारे पूर्वानिष्ठित कर्मों द्वारा निश्चित होती है और भविष्य वर्तमान कर्मों द्वारा। आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में लगातार घूमती हुई कभी ऊपर विकास करती है, कभी प्रत्यागमन करती है। यही प्रकृति का नियम है।

वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि आत्मा जड़ है, शरीर है। जड़ तो आत्मा का दास है। वेद ऐसी भी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय निर्मम विधानों का संघात है और न यह कि वह कार्यकारिणी की अनन्त कारा है, वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, जड़तत्त्व और शक्ति के

प्रत्येक अणु-परमाणु में ओत-प्रोत वही एक विराजमान है जिसके भय से अग्नि दहकती है, सूर्य ताप देता है, इन्द्र, वायु और मृत्यु चलते हैं। वह सर्वत्र है, शुद्ध निराकार सर्वशक्तिमान है, सब पर उसकी पूर्ण दया है।

हम उसकी पूजा किस प्रकार करें ? प्रेम के द्वारा ! ऐहिक तथा पारत्रिक समस्त प्रिय बस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर उस परम प्रेमास्पद की पूजा करनी चाहिए। श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि मनुष्य को इस संसार में पद्मपत्र की तरह रहना चाहिए। पद्मपत्र जैसे पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए, उसका हृदय ईश्वर में लगा रहे और उसके हाथ कर्म करने में लगे रहें।

वेद कहते हैं कि आत्मा दिव्य स्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धनों में बंध गयी है, और उन बन्धनों के टूटने पर वह अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता, अपूर्णता के बन्धनों से छुटकारा, जन्म-मृत्यु से छुटकारा। और यह बन्धन केवल ईश्वर की दया से ही टूट सकता है। और यह दया पवित्र लोगों को ही प्राप्त होती है। अतएव पवित्रता ही उसके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है।

हिन्दू शब्दों और सिद्धांत के जाल में जाना नहीं चाहता। वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। अतः हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में, यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है : "मैंने आत्मा का दर्शन किया है।"

स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है—"बनो और दूसरों को भी बनाओ।" हिन्दुओं की सारी साधना प्रणाली का लक्ष्य है सतत अव्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, दिव्य बन जाना, ईश्वर को प्राप्त करना और उसके दर्शन कर लेना। (शेष पृष्ठ २६ पर)

पारसी धर्म

—मेजर ई० एच० कैन्टीनवाला

पारसी (ज़ोरोअस्टर) धर्म का आधार 'अशोही' अर्थात् पवित्रता है। शरीर की पवित्रता से मन की पवित्रता होती है और मन की पवित्रता से आत्मा की पवित्रता।

इस पवित्रता को प्राप्त करने के लिए अच्छे विचार (मनशनी), अच्छे वचन (गवशनी) और अच्छे कर्म (कुनशनी) आवश्यक हैं। यदि किसी के विचार उत्तम हैं तो उसका परिणाम उत्तम ही होगा।

सत्य सत्य ही रहेगा, उसे असत्य में नहीं बदला जा सकता। उसी तरह असत्य असत्य ही रहेगा, उसे सत्य में नहीं बदला जा सकता। सभी महात्माओं ने सत्य के लिए कष्ट उठाये हैं परन्तु अन्त में विजय सत्य की ही हुई है।

धर्मपूर्वक रहने से इस जीवन में सुख मिलता है और परलोक भी सुधरता है।

साहस मनुष्य को कठिन कार्य को सरलतापूर्वक सम्पादन करने की शक्ति देता है और अपने कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए आत्म-विश्वास देता है।

निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्य को अपने परिवार, समाज और देश के प्रति निभाना उतना ही श्रेयस्कर है जितना ईश्वर को भक्तिपूर्वक पूजना।

अपने कर्त्ता में श्रद्धा रखने से श्रम का प्रतिफल तो मिलता ही है, मानसिक तुष्टि भी होती है।

करुणा और प्रेम एक दूसरे के पूरक हैं और अपने प्रति बुराई करने वालों की अचूक औषधियाँ हैं। तलवार के बजाय प्रेम से किसी को ज्यादा आसानी से जीता जा सकता है।

बुद्धिमत्ता के बिना ज्ञान उपयोगी नहीं है।

दूसरों को सुख देने और स्वयं को सुखी करने में कुछ खर्च नहीं होता। 'आवेस्ता' में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि वही मनुष्य वास्तव में सुखी है जो दूसरों को सुख प्रदान करता है।

एकता शक्ति है चाहे वह जिस भी क्षेत्र में हो, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय। सभी नर-नारी एक ही मानव जाति के सदस्य हैं। मानवता का बन्धन उन सब को बांधे हुए हैं। चूँकि हम सब उसी परमपिता की सन्तान हैं हम सब भाई-बहन हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं। जब तक हम एक दूसरे का विश्वास नहीं करेंगे और सौहार्द-प्रेम का बर्ताव नहीं करेंगे, समृद्धि और प्रगति नहीं मिल सकेगी। आपस की फूट हम लोगों को कमजोर बनाती है, दुश्मनी पैदा करती है, द्वेष और घृणा को जन्म देती है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति विस्फोटक है। शक्तिशाली राष्ट्र निर्बलों को दबा रहे हैं। विज्ञान की प्रगति का उपयोग मानव के कल्याण के लिए न हो कर उसके विनाश के लिए किया जा रहा है। ईश्वर हम सबको प्यार करता है और हमें भी सबको प्यार करना चाहिए। यह ईश्वरीय कानून है कि हम लोग प्रेम के साथ सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयत्न करें जिससे आपस के भेदभाव मिट जायें और जाति, वर्ण, वाद एवं धर्म की सीमायें टूट जायें।

हम उस दिन की कामना करते हैं जब मानव-मात्र मिलजुल कर शांति, प्रेम, समन्वय और सद्भाव को चरितार्थ करेंगे।

——

बौद्ध धर्म

—भिक्षु चन्द्र रत्न

तथागत बुद्ध को समझने के लिए हमें उन्हीं के एक उपदेश का सहारा लेना पड़ेगा :

दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति ।
यत्थ सो जायति धीरो तं कुलं सुखमेधति ॥

अर्थात्, मनुष्य के लिए उत्तम पुरुषों का सम्पर्क दुर्लभ है ; उत्तम पुरुष सर्वत्र उत्पन्न नहीं होते; वे धीर पुरुष जहाँ कहीं उत्पन्न होते हैं वहाँ सब की वृद्धि होती है ।

तथागत बुद्ध के उपदेशों में कौन सी वह शक्ति थी जिसके कारण राजा और रंक सभी नतमस्तक होते थे ? उनकी वाणी का प्रभाव उनके अपने समय में ही नहीं, आज तक के विश्व इतिहास में हम समान रूप से पाते हैं । इसका मुख्य कारण था, मैं कहूंगा, कि बुद्ध यथावादी तथाकारी थे । बुद्ध ने जो कुछ कहा उसे किया । बुद्ध ने अपने को किसी ईश्वरीय शक्ति का प्रतिनिधि अथवा पुत्र नहीं बतलाया । उनका कहना था कि ज्ञानी 'बुद्ध' बनना प्रत्येक प्राणी के लिए सम्भव है ।

भगवान ने कहा था :—

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गि सिरूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीली रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥

अर्थात्, असंयमी दुराचारी हो, राष्ट्र का पिण्ड (देश के अन्न) खाने से अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है । इतना ही नहीं, भगवान ने कहा था कि उनका धर्म बेड़े के समान पार होने के लिए है, सिर पर ढोने के लिए नहीं ।

श्रावस्ती के जेतवन संघाराम में रहते हुए कालाम नामक ब्राह्मणों को उपदेश देते हुए भगवान ने कहा :—

"हे कालाम ! आप लोग कोई कुछ कहे तो इसीलिये मत मानिए कि वे उपदेशक हमारे गुरु हैं या वह बात वेद में लिखी है या वह बात सुन्दर रूप से कही गयी है या वह बात उनकी परम्परा में बहुत पहले से चली आई है या वह बात बहुत लोग मानते हैं या वह बात सुनी है। कालामों ! आप लोग अपनी बुद्धि को कसौटी बनाइये और अपनी समझ में भी यह आए कि उस बात पर चलने से आपका कल्याण होगा तो मानें अन्यथा मानने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं बुद्ध कहते हैं इसलिये भी न मानिये। आपकी अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसने पर जो सही जंचे उसे मानना चाहिए।"

भगवान धार्मिक ही नहीं, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी क्रांतिकारी थे। उन्होंने भिक्षु संघ को साम्य-वादी तरीके पर गठित किया था। वे तत्कालीन लिच्छवि गणतन्त्र के बहुत बड़े प्रशंसक थे और उन्होंने अपने संघ को भी गणतन्त्रीय आधार पर ही संगठित किया था। उनका कहना था कि संघ एक व्यक्ति से बढ़कर है।

सैद्धांतिक पक्ष को समझने के लिए हमें बुद्ध के चार सिद्धातों को समझ लेना आवश्यक है जिनमें तीन अस्वीकारात्मक और एक स्वीकारात्मक है :—

१—ईश्वर को न मानना अन्यथा मनुष्य स्वयं अपना मालिक है, इस सिद्धांत का विरोध होगा।

२—आत्मा को नित्य न मानना अन्यथा नित्य मान लेने पर उसकी परिशुद्धि और मुक्ति के लिए सम्भावना न रहेगी।

३—किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण नहीं मानना अन्यथा बुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता जाती रहेगी।

४—जीवन प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित न मानना अन्यथा जीवन और उसकी विचित्रतायें कार्य-कारण नियम से उत्पन्न न होकर आकस्मिक घटनायें रह जायेंगी।

इन्हीं चार बातों के विस्तार में जाने पर हमें **त्रिपिटक** में एक समान उपदेश मिलते हैं। तथागत देशना का एक रस है अमृतमय निर्वाण रस जो कि मनुष्य के इहलौकिक और पारिलौकिक हित सुख के लिए है।

"बहुजन हित सुख के लिए, हे भिक्षुओं ! विचरो" के अमर सन्देश को लेकर गये बुद्ध के श्रावक शिष्यों के द्वारा मानवता को एक राह मिली जिसके लिए आज विश्व अपने बुद्ध के प्रति ऋणी है।

——

(पृष्ठ २१ का शेष)

जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब वह असीम परमानन्द का जीवन व्यतीत करता है। श्रीरामकृष्ण देव ने कहा है– "वह परमानन्द सांसारिक आनन्द से कोटिगुण अधिक है। आत्मा जब पूर्ण और निरपेक्ष हो जाती है, तब वह ब्रह्म के साथ एक हो जाती है, और वह ईश्वर को केवल अपने ही स्वरूप की पूर्णता, सत्यता और सत्ता के रूप में, परम सत् - परम चित् - परम आनन्द के रूप में, प्रत्यक्ष करती है। जब मैं प्राण स्वरूप से एक हो जाऊंगा तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है, जब मैं आनन्द स्वरूप हो जाऊंगा तभी दुःख का अन्त हो सकता है, जब मैं ज्ञान स्वरूप हो जाऊंगा तभी सब अज्ञान का अन्त हो सकता है।"

हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जा रहा है, वह तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर, अग्रसर हो रहा है। हिन्दूओं के धार्मिक विचारों की यही संक्षिप्त रूपरेखा है। यह सार्वभौमिक धर्म किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं है।

——

ईसाई धर्म

—फ़ादर थियो पिन्टो

ईसाई धर्म का प्रवर्त्तन आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व ईसा मसीह् ने किया था। ईसा मसीह् (यीशू ख्रीस्ट) फिलिस्तीन के रहने वाले थे। इन्होंने संसार को करुणा एवं प्रेम का संदेश दिया। उनके उपदेशों का संग्रह **बाइबिल** में है।

ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक यीशु शांति के बारे में कहते है :—

Peace I leave with you, my peace I give unto you; not as the world giveth, do I give unto you. (St. John, XIV. 27)–अर्थात्, मैं तुम्हें शांति छोड़ जाता हूं, अपनी शांति तुम्हें देता हूँ; जिस भांति संसार उसे देता है, उस भांति मैं उसे नहीं देता।

ईसाई धर्म के महान विचारकों में एक संत अगस्तीन ५वीं सदी ईस्वी में हुए थे। वे अपनी पुस्तक The City of God में शांति के सम्बन्ध में निम्न प्रकार कहते हैं—

Peace of mortal man with God is well-ordered obedience in faith under the eternal law. The peace of mankind is a well-ordered concord. The peace of a household is a well-ordered concord of the members of the community in the matter of command and obedience. The peace of a city is a well-ordered concord of the citizens in the matter of command and obedience. The peace of the heavenly city is social life in thorough good order and concord for the enjoyment of God and of one another's company in God. The peace of all things is a tranquility of order. Order is an arrangement of components of equal and unequal, assigning the proper place to each.

(शेष पृष्ठ २९ पर)

इस्लाम धर्म

—मौलाना मुहम्मद इरफान

मज़हबे इस्लाम की सबसे बड़ी खुसूसियत यह है कि यह सिर्फ चन्द अकायद (विश्वासों) के मानने का नाम नहीं है और न सिर्फ कुछ मखसूस ऐमाल (आचार) का नाम है। बल्कि मज़हबे इस्लाम इन्सानों की पूरी जिन्दगी के लिए एक दस्तूर और कानून देता है। इस्लाम कहता है कि हमारी बतायी हुई बातों को कोई भी मानकर अपने को अल्लाह के ज्यादा करीब कर सकता है और उस दुनियाँ में अल्लाह की खुशी और उसकी मेहरबानियाँ हासिल कर सकता है।

इस्लाम इन्सान को ज़िन्दगी की तमाम राहों में रोशनी देता है और जिन्दगी का कोई शोबा इसकी गिरफ्त से बाहर नहीं है। इस्लाम की यह वह खुसूसियत है जो दुनिया के और किसी मजहब में नहीं पायी जाती। ताजिर, काश्तकार, जमींदार, कारखानादार, मजदूर, टीचर, तालिब इल्म, जज, हाकिम—हर एक के लिए उसकी रहनुमाई और हिदायत के लिए इस्लाम में वाजह तौर पर हिदायत मौजूद हैं।

इस्लाम की दूसरी इम्तियाज़ी सिफ्त यह है कि वह हुस्ने इख्लाक और हुस्ने सुलूक (शिष्टाचार) पर बहुत जोर देता है। कमज़ोरों और माजूरों के साथ नर्मी और शफक्कत के बर्ताव की हिदायत करता है।

हजरत मुहम्मद सल-लल्लाहो-अलैहे-व-सल्लम ने हमें जो बहुत सी हिदायत दी हैं और जिन्हें हम 'हदीस शरीफ' कहते हैं उनमें बहुत सी जगहों पर साफ लिखा है, "वह मुसलमान नहीं, जिसका पड़ोसी उसकी शरारत से महफूज न हो; और वह मुसलमान नहीं है जो पेट भर खाना खाये और उसका पड़ोसी भूखा हो।" और उसी तरह बीमारों की देखभाल करना, यतीमों की परवरिश करना,

कर्जदारों की मदद करना, पड़ोसियों के साथ अच्छा सुलूक करना और बड़ों का अदब व अहतराम करना और छोटों के साथ मुहब्बत व नर्मी के साथ पेश आने की हिदायत इस्लामी अहकाम में मौजूद है।

तारीख से हमें यह पता चलता है कि बहुत से लोग मुसलमानों के अच्छे सुलूक और अच्छे बर्ताव की वजह से मुसलमान हुए। यहाँ तक कि हजरत मुहम्मद सल-लल्लाहो-अलैहे-व-सल्लम ने जानवरों के साथ भी नर्मी और अच्छे तरीके से पेश आने की हिदायत फरमायी है।

इस्लाम को सही तौर पर समझने के लिये **कुरान पाक** और **हदीस शरीफ** का मुताल्ला (पाठ) करना, और हजरत मुहम्मद सल-लल्लाहो-अलैहे-व-सल्लम जो आखिरी नबी थे उनकी सीरत और सीवाने उम्री (जीवन-चरित्र) पढ़ना चाहिये। इससे सही इस्लाम मालूम होगा। ★

(पृष्ठ २७ का शेष)

अर्थात्, शाश्वत नियम के अन्तर्गत विश्वास में सुव्यवस्थित आज्ञाकारिता द्वारा मनुष्य की भगवान के साथ शांति होती है। मानव जाति की शांति सुव्यवस्थित समन्वयात्मक एकता है। परिवार की शांति सदस्यों में आदेश एवं आज्ञाकारिता के विषय में सुव्यवस्थित समन्वयात्मक एकता है। नगर की शांति नागरिकों में आदेश एवं आज्ञाकारिता के विषय में सुव्यवस्थित समन्वयात्यक एकता है। दैवी नगर की शांति भगवान से आनन्द पाने के लिए और भगवान के सान्निध्य में एक दूसरे से आनन्द पाने के लिए सम्पूर्ण अच्छी व्यवस्था और समन्वयात्मक एकता में निहित सामाजिक जीवन है। सब चीजों की शांति व्यवस्था में स्थिरता है। व्यवस्था समान एवं असमान अंशों का विन्यास है, प्रत्येक को उसका निर्धारित स्थान देते हुए। ★

सिक्ख धर्म

—सरदार त्रिलोचन सिंह भसीन

संसार भर के प्राचीन धर्मों की अपेक्षा सिक्ख धर्म तो एक नवीन धर्म है जिसका जन्म १५वीं शताब्दी में गुरू नानक देव जी के आगमन से हुआ और जिसको सम्पूर्ण रूप (जैसा कि वह है) सिक्ख धर्म के दसवें तथा अन्तिम गुरु, गुरु गोविन्द सिंह ने १७वीं शताब्दी के अन्त में दिया।

सिक्ख धर्म का मौलिक सिद्धांत भी यही है कि हम सब भाई-भाई हैं और परमात्मा हम सबका पिता है। गुरु नानक जी से जब कभी भी पूछा गया कि आप हिन्दू हैं या मुसलमान तो आपने यही उत्तर दिया, "न हम हिन्दू न मुसलमान, अल्लाह आम के पिंड प्रान"। गुरु नानक देव जी ने परमात्मा की परिभाषा सिक्ख धर्म के उस महान ग्रन्थ में की है जिसे **गुरू ग्रन्थ साहब** कहा जाता है। आपने न तो परमात्मा को किसी व्यक्तिगत मनुष्य में थोपा हुआ ही बताया, चाहे वह आत्मिक स्तर पर कितना ही ऊंचा क्यों न हो, और न ही उसे कई भागों में बांटा—वह एक है, उसके बराबर का और कोई नहीं है; उसे न तो किसी का भय है, न किसी से शत्रुता; वह युगों से सत्य रहा है, अब भी सत्य है और सदा सत्य रहेगा; और वह प्राप्त भी तभी होता है जब वह स्वयं ही दयालु हो जाए।

सिक्ख धर्म में गुरु से भाव केवल एक ऐसे धार्मिक नेता से है जो अपने आत्मिक ज्ञान और उपदेशों द्वारा मानवता को बुराई से हटाकर अच्छाई की ओर, असत्य से हटाकर सत्य की ओर, अधर्म से हटाकर धर्म की ओर लाता है, और अपने मानसिक तथा आत्मिक प्रकाश द्वारा मनुष्य को वह रास्ता दिखाता है जिस रास्ते पर चल कर वह मुक्ति का अधिकारी बन सके।

सिक्ख धर्म का विश्वास है कि भक्ति भाव के लिए मनुष्य को अपना घरबार छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है वरन् इस संसार में रह कर अपना कार्य-व्यवहार करते हुए संसार से किंचित विलग रह कर नाम और स्मरण से वह परमात्मा को पा सकता है।

"किरत करनी, नाम जपणा, बंड छकणा", भाव—अपने हाथों से नेक कमाई करना, परमात्मा का भजन करना और बांटकर खाना, सिक्ख धर्म के कुछ मुख्य सिद्धांत हैं।

सिक्ख धर्म जाति-पांत तथा धर्म के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव में विश्वास नहीं रखता। इस धर्म में स्त्री जाति को भी पूर्ण तौर पर सामाजिक स्वतन्त्रता तथा समानता प्राप्त है। "सच हो अेरे सभको उपर सचे आचार" गुरु नानक देव जी का शुभ वचन है। भाव यह है कि सत्य तो सबसे ऊंचा है ही परन्तु उससे भी ऊंची कोई चीज है और वह है सत्य का रचनात्मक प्रयोग जिसे आचरण कहते हैं।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने में दया, क्षमा, नम्रता, उदारता तथा सहनशीलता पैदा करे, और काम, क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि का परित्याग करे। परन्तु सहनशीलता से यह भाव नहीं कि मनुष्य कभी सत्य के पक्ष में अपनी आवाज न उठाये और न ही सहनशीलता का भाव कायरता है।

सिक्ख धर्म के दसवें तथा अन्तिम गुरु, गुरु श्री गोविन्द सिंह जी, ने सिक्ख धर्म में भक्ति की भावना के साथ शक्ति की भावना को भी सम्मिलित किया और स्पष्ट रूप से कहा कि जब जुल्म और अत्याचार के विरुद्ध सभी शांतिमय उपाय असफल हो जायें तो मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपने धर्म की रक्षा के लिए तलवार उठाये। आपने अपने इस संसार में आने का उद्देश्य अपनी आत्मकथा **विचित्र नाटक** में इस प्रकार लिखा है : "धर्म चलावन,

(शेष पृष्ठ ३६ पर)

जैन ऐतिहासिक पुरुष : सम्राट सम्प्रति

—डा० विनोद कुमार तिवारी

मौर्य सम्राट अशोक की मृत्यु के पश्चात् इस वंश का दूसरा महत्वपूर्ण शासक सम्प्रति हुआ, जिसके शासन एवं धार्मिक मान्यताओं के विषय में हमें जैन और बौद्ध साहित्यों, पट्टावलियों, अभिलेखीय प्रमाणों तथा अन्य अनेक पुरातात्त्विक स्रोतों से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। जैन साक्ष्यों ने भी अन्य स्रोतों की तरह सम्प्रति को कुणाल का पुत्र बतलाया है[1], जिसे अशोक ने अपने शासन काल में उज्जैन और मध्य भारत का प्रशासक नियुक्त किया था तथा जिसने आगे चलकर दशरथ के पश्चात् पाटलिपुत्र की गद्दी प्राप्त की। सम्प्रति का उज्जैन तथा पाटलिपुत्र से एक साथ शासन करना[2] यह स्पष्ट करता है कि उसने पूर्व से पश्चिम तक एक विशाल प्रदेश पर अपना आधिपत्य बनाये रखा।[3]

जैन एवं अन्य कई दूसरे साहित्यों में सम्प्रति को प्राचीन जैन इतिहास के एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसने अन्तिम जैन श्रुत केवली भद्रबाहु के शिष्य सुहस्ती से दीक्षा ली थी।[4] हेमचन्द्र ने आर्य सुहस्ती के उज्जैन प्रवास तथा अर्हतों के सम्मान में आयोजित धार्मिक उत्सवों का वृहत् वर्णन किया है तथा इस अवसर पर सम्प्रति एवं उस क्षेत्र के निवासियों के इन उत्सवों के प्रति उत्साह को भी चित्रित किया है।[5] जैन स्रोत सम्प्रति के जैनधर्म के प्रति अनुराग को उसी प्रकार प्रस्तुत करते हैं जैसा अशोक के विषय में बौद्ध साहित्य ने किया है।[6] उसके शासन काल में जैनधर्म का सम्पूर्ण आर्य देश में प्रचार-प्रसार हुआ[7] और सम्प्रति के प्रभाव से उसके कई अधीनस्थ शासकों ने भी जैन सिद्धान्तों को स्वीकार किया। जिनप्रभसूरी के पाटलिपुत्र कल्प के अनुसार सम्प्रति अर्हन्त भक्त जैन था और उसने अनार्य देशों में भी जैन मुनियों का विहार कराया था।[8]

वृहतकल्पभाष्य ने सम्प्रति को महान जैन भक्त बतलाते हुए यह जानकारी प्रदान की है कि उसने अपने सम्पूर्ण राज्य में जैन

मन्दिर, स्तूप तथा मठों का निर्माण करवाया तथा जवाहरातों की बहुमूल्य प्रतिमायें सर्जित करवाई।[9] इस आधार पर वी. ए. स्मिथ का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय सभी वैसे जैन स्मारक, जिसके निर्माताओं के विषय में हमें जानकारी नहीं है, एक स्वर से सम्प्रति द्वारा निर्मित कहे जा सकते हैं, जिसे "प्राचीन भारतीय जैन अशोक" की संज्ञा दी गई है।[10] इन स्मारकों में जैन मन्दिर, विश्रामालय, वापिकाएं या पक्के कुएं वगैरह शामिल थे। जैन साक्ष्यों से पता चलता है कि उसने कुछ अनार्य क्षेत्रों, जैसे आन्द (आंध्र), दमिल (द्रविड) और मरहटठा (महाराष्ट्र) में भी जैन मन्दिरों या भवनों का निर्माण करवाया।[11] सम्प्रति ने भारत से बाहर भी जैन सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्न किये और तीर्थंकर महावीर की वाणी को फारस, अरब, अफगानिस्तान तथा श्रीलंका तक पहुंचाने का श्रेय इस मौर्य शासक को ही दिया जा सकता है।[12]

आधुनिक भारत के राजस्थान और गुजरात प्रदेशों मे वहुत से प्राचीन जैन स्मारकों के भग्नावशेष मिले हैं, जिनका निर्माण सम्प्रति ने संभवतः करवाया था। उसने तीर्थंकर सम्भवनाथ के जन्मस्थल पर भी जैन मन्दिर और स्तूप बनवाये, जिन्हें आगे चलकर मुस्लिम आक्रमणकारियों ने ध्वंस कर दिया।[13] जैन स्मारकों के कुछ चिन्ह वाराणसी और इलाहाबाद के क्षेत्रों में भी मिले हैं, जो सम्प्रति के बनवाये हुए बतलाये गये हैं।[14] कौशाम्बी के किले के अन्दर एक स्तूप है, जिसे सम्राट सम्प्रति द्वारा निर्मित बताया गया है, क्योंकि कौशाम्वी का क्षेत्र स्वामी पदमप्रभु का क्षेत्र रहा है।[15] कई इतिहासकारों का ऐसा विचार है कि सारनाथ का प्रसिद्ध सिह स्तम्भ - शीर्ष खण्ड सम्राट अशोक द्वारा निर्मित नहीं है, बल्कि इसका निर्माण उसी के पौत्र सम्प्रति ने कराया था।[16] इसके पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुये यह कहा गया है कि सम्प्रति ने अशोक की तरह ही अपने लिये "देवानांपिय पियदसी" का प्रयोग किया है और दूसरा यह कि भारतवर्ष में जो प्राचीन चौदह ख्याति प्राप्त स्तम्भ मिले हैं और जिन्हें साधारणतया

सम्राट अशोक द्वारा ही निर्माण कराया कहा जाता है, उन पर कहीं भी ऐसा लेख नहीं है कि वे सम्राट अशोक द्वारा निर्मित हैं। विक्टोरिया एण्ड एल्बर्ट म्युजियम (लन्दन) के प्राच्य विभाग के अध्यक्ष जॉन इर्विन का भी यह सुझाव है कि जब तक स्तम्भ पर ऐसा लेख प्राप्त न हो, तब तक उसे सम्राट अशोक द्वारा निर्मित न माना जाये।[17]

सम्प्रति ने न सिर्फ अपने राज्य और उससे बाहर जैन मंदिरों, स्तूपों और स्मारकों का निर्माण ही किया, बल्कि उन क्षेत्रों में जैन धर्म के सिद्धांतों के प्रचार के लिए कुछ नई नीतियाँ भी अपनाईं। उसने अपने पड़ोसी मित्र शासकों से मिलकर उनसे जैन सिद्धान्तों को मानने तथा जैनधर्म को राजकीय सहायता प्रदान करने की अपील भी की, ताकि जैन श्रमणों और मुनियों को अपने देश के साथ-साथ उन प्रदेशों में भी हर तरह की सुविधा उपलब्ध हो सके।[18] उसने कई धार्मिक मिशन सुदूर दक्षिण के क्षेत्रों में भेजे[19], जहाँ उनके प्रयत्नों से जैन मत को काफी लोकप्रियता मिली। सम्प्रति ने आंध्र, दविड और कुर्ग का क्षेत्र जैन श्रमणों के लिए सुरक्षित बना दिया।[20] ई०पू० तीसरी-दूसरी सदी के ब्राह्मी लेख तथा तिन्नावल्ली एवं सितन्न-वासल की गुफाओं के जैन प्रमाण इस बात की पुष्टि करते हैं कि सम्प्रति ने इस क्षेत्र में जैनधर्म के प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया था।[21] दक्षिण भारत में उपरोक्त प्रयत्नों से जैनधर्म को इतनी अधिक सफलता मिली कि राइस महोदय ने निष्कर्षतः यह कहा कि दक्षिण भारत और विशेषकर आधुनिक मैसूर के क्षेत्र में इस समय जैन विचार इतने लोकप्रिय हुए, जितने वे पहले कभी नहीं हुए थे।[22]

साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्प्रति के भाई शालिशुक ने काठियावाड़ के इलाकों में जैन सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[23] जिनप्रभ के अनुसार सम्प्रति ने जैन मतावलम्बियों के बीच रथयात्रा का भी प्रचलन शुरू किया और गुजरात के अनेक जैन तीर्थों की यात्रा की। उसने इस बात की भी पुष्टि की है कि सम्प्रति इस क्षेत्र में राजा

के साथ-साथ एक तीर्थ यात्री की हैसियत से भी आया था।[24] सत्रहवीं सदी के धर्मसागर उपाध्याय ने इस मौर्य शासक द्वारा कुछ जैन मन्दिरों के बनवाने का जिक्र भी किया है, यद्यपि अभी तक खुदाइयों से इसकी पुष्टि नहीं हो पाई है।[25]

सम्प्रति ने अपनी राज्य सीमा के बाहर तथा वैसे क्षेत्रों में जहाँ जैनधर्म अभी तक लोकप्रिय नहीं हो पाया था, अन्य उपायों से इसे जनप्रिय बनाने का प्रयास किया। इन क्षेत्रों में वाहकों के वेश में जैन श्रमण भेजे गए, जो उन क्षेत्रों में जाकर जैन उपासकों की सुविधा के लिये सारी व्यवस्था कर दिया करते थे।[26] प्रशासन की तरफ से इसी प्रकार कर वसूलने वाले अधिकारीगण राज्य की सीमाओं पर भेजे जाते थे जो जैन उपासकों को प्रिय लगें। इसी तरह जैन श्रमणों एवं मुनियों को किसी तरह की तकलीफ न हो, इसका प्रशासन की तरफ से पूरा ध्यान रखा जाता था।[27] इसके अलावा सम्प्रति ने राज्य के व्यापारियों को यह निर्देश भी दिया था कि वे जैन श्रमणों को आवश्यकता की चीजें मुहैय्या करें। उपरोक्त विधियों से जैनधर्म सम्प्रति के काल में ही भारत के एक बहुत बड़े भाग और इसकी सीमाओं से बाहर भी जा पहुंचा जहाँ आने वाली शताब्दियों में वह धीरे-धीरे विकसित होता रहा।

सन्दर्भ सूची :

1. **परिशिष्टपर्व**, IX, 34–35; Journal of Bihar and Orissa Research Society, XLV, पृ. 467
2. **परिशिष्टपर्व**, X, XI
3. एच. सी. रायचौधरी : Political History of Ancient India, पृ. 291
4. **परिशिष्टपर्व**, II, 23–66 ; **कल्पसूत्र**, सुबोधी टीका, श्लोक 6
5. **परिशिष्टपर्व** (सं. जैकोबी), पृ 60
6. सी. जे. शाह: Jainism in Northern India, पृ. 144
7. **बृहत्कल्पभाष्य** और **प्रज्ञापन्नसूत्र** ने इन क्षेत्रों में प्रधान रूप से मगध, अंग, वंग, कोशल, कुरू, पंचाल, शौरसेन, विदेह, वत्स, मलय, मत्स्य, चेदि, सिंधु-सौवीर, कुणाल और लाढ को सम्मिलित किया है।
8. कैलाशचन्द्र शास्त्री : **जैनधर्म**, पृ. 202
9. गाथा 3285–89

10. An Early History of India, पृ. 202
11. निशीथ विशेष चूर्णी, खण्ड VI, पृ. 128 तथा आगे
12. बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, खण्ड 1, पृ. 34
13. वही, पृ. 9
14. वही, पृ. 60 तथा 132
15. वही, पृ. 146
16. J. S. B., खण्ड 35, संख्या 2, पृ. 32–37
17. वही, पृ. 36
18. परिशिष्टपर्व, पृ. 60.
19. प्राचीन भारतीय इतिहास में सुदूर दक्षिण के क्षेत्रों में श्वेताम्बर जैन मिशनों के भेजे जाने का यह प्रथम उदाहरण था।
20. बृहत्कल्पसूत्र, भाष्य III, 3275–89
21. आयंगर एवं राव : Studies in South Indian Jainism, खण्ड I, पृ. 33; पी० बी० देसाई : Jainism in South India, पृ. 28, 35, 51 तथा 53
22. Jina Manjari, खण्ड V, संख्या 2, पृ. 30
23. J. B. O. R. S., खण्ड XVI, पृ. 29–30
24. ए. के. राय : A History of Jainas, पृ. 277 एवं 239
25. मीरजी अन्नराय : जैनधर्म (कन्नड), द्वितीय संस्करण, पृ. 63
26. एम. एल. मेहता : Jain Culture, पृ. 17
27. Jina Manjari, खण्ड V, नम्बर 2, पृ. 39 ★

(पृष्ठ ३१ का शेष)

संत उबारन, दुष्ट सबहिन को मूल उपारन।" और फिर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आपने अपने पिता को ही नहीं बल्कि अपने चार बेटों को भी न्यौछावर कर दिया। उन्होंने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं चुना और अपने सिक्खों को आदेश दिया कि वे अब **गुरु ग्रन्थ साहब** को ही आत्मिक तौर पर अपना गुरु मानें और इसमें दिये हुए उपदेशों के अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत करें। इस ग्रंथ में सिक्ख धर्म के छः गुरुओं के अतिरिक्त १५ भक्तों जिनमें नीच से नीच जाति के भक्त सम्मिलित हैं, यहाँ तक कि शेख फरीद जैसे मुसलमान सूफी फकीरों, के आत्मिक वचनों को भी एक जैसी समानता दी गयी है।

सिक्ख धर्म सभी धर्मों का आदर करता है और प्रतिदिन हर गुरुद्वारे में प्रातःकाल और सायंकाल नित्य के कार्यक्रम के पश्चात किसी विशेष कौम या जाति के लिए नहीं बल्कि पूर्णरूप से मानव जाति की सुख और शांति के लिए प्रार्थना की जाती है।

नानक नाम चढ़दी कला, तेरे भाणे सरबत का भला। ★

ग्वालियर के जैन मन्दिरों की अनुपम भित्तिचित्र शैली

—डा० अभय प्रकाश जैन

ग्वालियर नगर जो गोपाचल पर्वत के चारों ओर बसा हुआ है, प्राचीनकाल से ही जैन धर्मावलम्बियों का केन्द्र रहा है। यहाँ पर जैन धर्म की विभिन्न शाखाओं-उपशाखाओं को मानने वाले धार्मिक प्रवृति के श्रेष्ठीजन बसते रहे हैं। इस नगर में तीर्थंकरों की आराधना हेतु ३० से ऊपर मन्दिर है। इन मन्दिरों में से १० मन्दिरों में भित्तिचित्र के माध्यम से दीवारों, छतों, स्तम्भों एवं मेहराबों को बहुत ही सुन्दर एवं सुरूचिपूर्ण विभिन्न रंगों तथा सोने के पानी के साथ-साथ रंग-बिरंगे काँच के टुकड़ों की सहायता से विविध रूपों में अलंकृत कर उन्हें भव्यता प्रदान की गई हैं। इस अनुपम शैली में बने हुए भित्तिचित्र अपने आप में अनमोल निधि हैं।

इन चित्र शैलियों में प्रयोग किये गये विभिन्न साधन इत्यादि की सूक्ष्म जाँच करने पर यह पाया गया कि इन भित्तिचित्रों की रचना पिछले ३०० वर्षों से निरन्तर एक क्रमिक गति के रूप में होती रही थी।

ग्वालियर स्थित जिनालयों में प्राप्त भित्तिचित्र शैली मूलतः ग्वालियर चित्रशैली का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि लश्कर एवं मुरार उपनगर स्थित जिनालयों की चित्र शैली राजस्थानी एवं मुगल चित्र शैली का प्रभाव लिए हैं।

ग्वालियर के जैन मन्दिरों में भित्तिचित्र कई प्रकार के हैं। ये समस्त मन्दिर ग्वालियरी बलुऐ पत्थरों से निर्मित हैं, जिस पर विशेष रूपेण तैयार किए हुए चूने का मोटा पलस्तर किया गया है। इस विशेष चूने की सतहों को इस प्रकार घोटा जाता था कि उसमें चिकनाहट के साथ-साथ चमक भी पैदा हो जाती थी, जो दूर से देखने वाले को संगमरमर का दृष्टि भ्रम उत्पन्न करती हैं। इस चूने की सतह को भित्तिचित्र हेतु तीन प्रकार प्रयोग किया जाता था।

प्रथम, इन सतहों पर सीधे-सीधे मानवाकृतियां या बेल-बूटों की सजावट कर दी जाती थी। द्वितीय, इस चूने के पलस्तर पर विभिन्न जैन कथानकों के आधार पर उभरी हुई आकृतियाँ बनाई जाती थी। तदुपरान्त उन्हें दृश्यानुसार विभिन्न रंगों व शुद्ध सोने के पानी से सज्जित किया जाता था। तृतीय, इन सतहों को सादे दर्पण के टुकड़ों या रंगीन कांच के टुकड़ों व पन्नियों की सहायता से भिन्न-भिन्न आकृतियों में सजाया जाता था; इन आकृतियों में मानवाकृति, पक्षियों एवं बेल-बूटों इत्यादि की मनोरम संरचना की जाती थी।

अधिकांश चित्रों में मानवा कृतियों के नाक-नक्श तीखे हैं, पहरावा राजस्थानी है, आभूषण भी राजस्थानी का प्रतिनिधित्व करते हैं। देह की संरचना किंचित मांसल एवं मध्यमकद आकार की हैं। चित्रकला शैली से स्पष्ट है कि इन चित्रों के निर्माता राजस्थान की जैन चित्रशैली के कुशल जानकार थे व मुगल चित्रशैली के साथ-साथ अन्य भारतीय चित्रशैलियों से भलीभांति परिचित थे।

लश्कर शहर स्थित जैन मन्दिरों में दाना ओली एवं डीडवाना ओली स्थित जिनालय अपनी सुन्दरता, विशालता एवं भव्यता के लिए विख्यात हैं। वस्तुतः देखा जाए तो जिन प्रतिमाओं की भव्यता के उपरान्त चित्रकला की भव्यता ही इन मन्दिरों को गरिमा प्रदान कर रही है।यहाँ प्रयोग किये जाने वाले रंग खनिज, अयस्क, धातु एवं वनस्पतियों से तैयार किये गये हैं, जो इतने समय उपरान्त भी नयनाभिराम हैं।

मानवीय लापरवाही के कारण कई ऐसी दीवारों को पोतकर बने हुए भित्तिचित्रों को मिटा दिया गया हैं। कई जिनालयों में इन मूल भित्तिचित्रों के ऊपर दूसरी सीमेन्ट की सतह बनाकर नये रासायनिक रंगों से चित्र बना दिये गये हैं, जो जिनालयों के परिवेश में बैमेल प्रतीत होते हैं। छतों पर नमी के कारण कई स्थानों पर चूने का पलस्तर गिर गया है, वहां सामन्जस्य को नजर-अन्दाज करते

(शेष पृष्ठ ३९ पर)

भारतीय ध्यान पद्धति : एक दृष्टि

—कु० सुधा जैन

भारतवर्ष में ध्यान की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। ब्राह्मण और श्रमण दोनों ही परम्पराओं में ध्यान पर विस्तार से चर्चा की गयी है। ब्राह्मण परम्परा में महर्षि पतंजलि को ध्यान का प्रमुख आचार्य माना गया है, तो श्रमण परम्परा में महावीर और बुद्ध को महाध्यानी कहा गया है। निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य आदि ऐसे आध्यात्मिक तत्त्व हैं जिन्हें संसार का प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है, चाहे वह धार्मिक व्यक्ति हो या दार्शनिक, योगी या सामान्यजन। परन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सभी मोक्ष ही प्राप्त करना चाहते हैं बल्कि व्यावहारिक जीवन में बहुत से ऐसे प्राणी देखने को मिलते हैं जो सुख का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। इन दोनों ही (आध्यात्मिक मोक्ष एवं भौतिक सुख) की प्राप्ति ध्यान द्वारा सम्भव है, ऐसा विद्वानों का

(पृष्ठ ३८ का शेष)

हुए सीमेन्ट से पेचवर्क जैसा कार्य किया जा रहा है। कुछ जिनालयों में पिछले कुछ समय से चित्रकला के इस खजाने को सुरक्षित रखने के उत्साहपूर्ण प्रयास भी किये जा रहे, किन्तु यह संरक्षण कला विशेषज्ञों द्वारा किया जाता तो सार्थक प्रयास होता क्योंकि अधिकांश चित्रों को आधुनिक रसायनिक व सिन्थेटिक रंगों से पुनः चित्रित किया जा रहा है जो उक्त भव्य चित्रशैली के वास्तविक स्वरूप से किंचित भी मेल नहीं रखते हैं। इस प्रकार अनजाने में ही इस धरोहर की क्षति हो रही है व कला के अनमोल खजाने को नष्ट किया जा रहा है, जिसे तुरन्त रोकना अनिवार्य हो गया है। उचित होगा कि मन्दिरों के भित्तिचित्रों के संरक्षण का कार्य मान्यता प्राप्त कला विशेषज्ञों द्वारा ही प्राधिकृत रूपेण कराने की व्यवस्था की जाये वरन् आगे आने वाली पीढ़ियाँ विरासत में मिली इस कला निधि से सदैव के लिए वंचित हो जायेंगी। ★

मत है। वर्तमान में ध्यान पर मात्र आध्यात्मिक दृष्टि से ही चिन्तन नहीं हो रहा है अपितु वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से ध्यान की उपादेयता पर विचार किया जा रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि वर्तमान में विभिन्न प्रकार की ध्यान पद्धतियाँ प्रकाश में आ रही हैं।

विचारातीत देखने की एकाग्रता या एकाग्रचिन्तन ध्यान है। ध्यान करने के लिए चाहे वह वैदिक परम्परा हो, चाहे जैन या बौद्ध परम्परा हो या आधुनिक ध्यान पद्धतियाँ ही हों, सभी में ध्यान के पूर्व कुछ भूमिका बतायी गयी है जिसे हम ध्यान के पूर्व की तैयारी भी कह सकते हैं। यथा, महर्षि पतंजलि ने अपने ग्रन्थ **योगसूत्र** में अष्टांग योग का वर्णन करते हुए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि का उल्लेख किया है।[1] इसमें ध्यान का स्थान यम, नियम, आदि के बाद रखा गया है। अब प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ ? प्रत्युत्तर रूप में कहा जा सकता है कि ध्यानावस्था प्राप्त करने के पूर्व आचार-शुद्धि एवं शरीर-शुद्धि अनिवार्य है और यह शरीर-शुद्धि यम, नियम, आसन, प्राणायाम के द्वारा ही सम्भव है। जहाँ तक मन की बात है तो यह भी शरीर का ही एक अंग है। शरीर साधने के साथ-साथ मन को साधने का भी विधान किया जाता है। **हठयोग प्रदीपिका** में स्पष्ट रुप से बताया गया है कि प्राणायाम के द्वारा मन का निरोध होता है।[2] जैन ग्रन्थ **आवश्यक निर्युक्ति** में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि यह चित्त की स्थिर दशा है।[3] इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ध्यान द्वारा मन की चित्तवृत्तियों का निरोध होता है।[4] परन्तु चित्त को किसी एक विषय पर केन्द्रित करना कठिन है क्योंकि यह किसी भी विषय पर क्षण मात्र के लिए भी स्थिर नहीं हो पाता है। परन्तु ध्यान करने वाला मन को एकाग्र करने का प्रयत्न अवश्य करता है और उसका यह प्रयत्न इतना सध जाता है कि उसे विषय और विषयी दोनों समान लगने लगते हैं। साधक की यही अवस्था ध्यान की पूर्ण

अवस्था है । **तत्त्वानुशासन** में कहा गया है—"ध्यान कुछ नहीं वस्तुतः एकाग्र चिन्तन ही है तथा ध्याता का ध्येय में स्थिर हो जाना ही ध्यान है ।"[6] इस अवस्था में मन के समस्त विक्षेपों का नाश हो जाता है ।

ध्यान के लिए प्रमुखतः तीन बातें अपेक्षित हैं—**ध्याता, ध्येय** और **ध्यान** ।[6] इन तीनों की एकात्मकता ही ध्यान है । महर्षि पतंजली ने सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि का उल्लेख किया है । असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है जबकि सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता ।[7] लेकिन हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए सम्प्रज्ञात समाधि का निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है । परन्तु यहाँ हमारा अभिप्राय एकाग्र चिन्तन से है जो असम्प्रज्ञात समाधि का ही प्रारूप है ।

उपर्युक्त ध्यान पद्धतियों के आधार पर यदि हम वर्तमान काल में प्रचलित ध्यान पद्धतियों पर दृष्टिपात करते हैं तो दोनों में कोई विशेष विरोध नहीं जान पड़ता । तेरापंथ गणाधिपति तुलसी का कहना है—"किसी एक बिन्दु पर एकाग्र होना, विचारों को एक ही दिशा में प्रवाहित करना या विचारातीत होना ध्यान की अनिवार्य योग्यता है, जिसकी प्राप्ति मानसिक अभ्यास को पुष्ट किये बिना सम्भव नहीं है ।[8] प्रेक्षाध्यान ध्यान की नई पद्धति है जिसके अन्तर्गत शारीरिक सन्तुलन के साथ-साथ मानसिक एवं भावनात्मक सन्तुलन को विकसित करने पर बल दिया जाता है । श्री रामकृष्ण परमहंस के अनुसार ध्यान की पूर्ण अवस्था रोने से प्राप्त होती है । उनका ऐसा मानना है कि रोने से व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर लेता है ।[9] परन्तु उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि ध्यान मन की एकाग्र अवस्था का नाम है और यह उसकी शक्ति भी है ।[10] यदि हम महर्षि अरविन्द की ध्यान पद्धति पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यहाँ भी मन को भावित करने का प्रयास किया गया है

और विभिन्न शब्दों के साथ-साथ मस्तिष्क शान्त हो रहा है, मस्तिष्क खाली हो रहा है, चारों ओर शान्ति ही शान्ति है, इत्यादि वाक्यों के जाप का विधान है। ठीक इसी प्रकार महर्षि महेश योगी की भावातीत ध्यान पद्धति में शब्दों का जाप करते-करते मानसिक सन्तुलन को इतना अधिक विकसित कर लिया जाता है कि साधक निरविचारिता की स्थिति में आ जाता है। परन्तु श्री गोयन्दका की विपश्यना ध्यान पद्धति इन सभी ध्यान पद्धतियों से कुछ अलग हट कर है जिसमे शरीर को साधने के साथ-साथ श्वास-प्रश्वास को नियन्त्रित करते हुए मौन रहने का अभ्यास करवाया जाता है।

प्रेक्षाध्यान के प्रतिष्ठापक आचार्य तुलसी हैं। यह पद्धति जैन साधना पद्धति का ही रूप है जिसे जैन ग्रन्थों से लिया गया है और उसे विज्ञान के साथ जोड़ते हुए आधुनिक रूप प्रदान किया गया है। प्रेक्षा ध्यान शरीर को साधने के साथ-साथ मन एवं भावों को भी साधता है। इसका प्रारम्भ शरीर स्थैर्य के साथ शुरू होता है और अनुचिन्तन पर जाकर खत्म होता है। इसमें आसन-प्राणायाम को जितना महत्व दिया गया है उतना ही महत्व मानसिक जाप को भी प्राप्त है। इसके साधना स्वरूप में कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, चैतन्यकेन्द्र-प्रेक्षा, लेश्या ध्यान, आसन, प्राणायाम, अनुप्रेक्षा और भावना है। कायोत्सर्ग के द्वारा साधक अपने शरीर की स्थिरता को साधता है तथा अपनी आत्मा व शरीर के विभेद को भी जानता है। ध्यान में शरीर की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि शरीर की चंचलता से मन की चंचलता अधिक बढ़ती है। इसलिए प्रेक्षाध्यान में अन्तर्यात्रा द्वारा चित्त को एकाग्र करने का प्रयास किया जाता है। सुषुम्ना पथ में चित्त की जागरुकता भी बढ़ती है। श्वास-प्रेक्षा के द्वारा श्वास को सम्यक् किया जाता है, क्योंकि मन का सम्बन्ध श्वास के साथ होता है। इस प्रयोग से शरीर में प्राण के संचार को भी सही किया जा सकता है। हमारे शरीर में चेतना के कुछ विशेष केन्द्र बताये गये हैं; चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के प्रयोग में उन केन्द्रों पर चित्त की प्रेक्षा

करके शक्ति को जागृत किया जा सकता है। जैनागमों की ऐसी मान्यता है कि हमारे शरीर में एक लेश्या तंत्र पाया जाता है जिसका प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है। लेश्या ध्यान में हम रंगों का ध्यान कर अपने भावों में परिवर्तन ला सकते हैं। अनुप्रेक्षा का प्रयोग अनुचिन्तन के स्तर पर होता है। हम अपनी वृत्तियों में व संवेगों में बदलाव अनुप्रेक्षा के प्रयोग से ला सकते हैं। विज्ञान की स्वतः-सूचन (auto-suggestion) की पद्धति पर आधारित अनुप्रेक्षा के प्रयोग से भावनात्मक स्तर पर बदलाव लाया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय परम्परा में अनेक प्रचीन एवं अर्वाचीन ध्यान पद्धतियाँ विकसित हुई हैं। वर्तमान में कुछ ध्यान पद्धतियों ने आध्यात्मिक आधार के साथ ही वैज्ञानिक पहलूओं के साथ भी सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि ध्यान को विज्ञान भी कहा गया है। जीवन का कोई भी पक्ष हो, चाहे वह सामाजिक हो या राजनैतिक, शैक्षिक हो अथवा व्यवसायिक, प्रत्येक क्षेत्र में ध्यान किसी न किसी रूप में अपना स्थान बनाये हुए है। वर्तमान में "स्ट्रेस मैनेजमेन्ट" (Stress Management) ध्यान की एक नई प्रविधि है जिसके द्वारा व्यवसायिक जगत् में श्रमिक एवं प्रबन्धक की कार्य क्षमता को प्रभावित किया जा रहा है। विद्यार्थियों को एकाग्र करने के लिए ध्यान के वर्ग चलाये जा रहे हैं। शिक्षकों को विशेष रूप से प्रशिक्षण दिया जा रहा है। ध्यान पद्धति को वैज्ञानिक ढ़ंग से विकसित कर उसके द्वारा वर्तमान में व्याप्त गम्भीर बीमारियों का उपचार किया जा रहा है। प्रेक्षाध्यान भी ऐसे ही उपचारों में से एक है, जो निःसन्देह एक वैज्ञानिक पद्धति है।

सन्दर्भ :—

1. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयोऽष्टावङ्गानि।
—योगदर्शन, 2/29

2. चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥ **—हठयोग-प्रदीपिका**, 2/2

(शेष पृष्ठ ४४ पर)

नलविलास नाटक का काव्य-सौन्दर्य

—डॉ० कृष्ण पाल त्रिपाठी

आचार्य हेमचन्द्रसूरि के पट्टशिष्य रामचन्द्रसूरि जैन संस्कृत वाङ्मय के एक विशिष्ट साहित्यकार थे। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं पर लेखनी चलायी परन्तु रूपक-रचना के क्षेत्र में उनकी विशेष ख्याति है। द्वादश शताब्दी तक भास के अतिरिक्त ऐसा कोई भी संस्कृत-नाटककार नहीं हुआ, जिसे रामचन्द्रसूरि की भांति विविध वर्ण्य-विषयों से समृद्ध विभिन्न प्रकार के एकादश रूपक रचना करने का गौरव प्राप्त हो। परन्तु अधिकांश समालोचकों ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। इसीलिए उनकी नाट्यकृतियाँ अभी तक जनसाधारण की दृष्टि में नहीं आ सकीं। उन्होंने **रामायण, महाभारत** आदि की कथाओं को जितनी परिष्कृत और परिमार्जित नाट्य-शैली में प्रस्तुत किया, वह सर्वतोभावेन श्लाघ्य है। उनके सभी रूपक वस्तु, नेता, रसादि की दृष्टि से पूर्णतः सम्पन्न हैं, तथापि उनमें **नलविलास** का महत्व सर्वोपरि है। यदि इसे कवि का कीर्ति-स्तम्भ कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यह सात अंकों का नाटक है। इसमें पुराण-प्रसिद्ध राजा नल और विदर्भराज-कन्या दमयन्ती की प्रणय-कथा मनोरम शैली में वर्णित है। कवि ने

(पृष्ठ ४३ का शेष)

3. चित्त सेगग्गया हवइ झाणं। —आवश्यक निर्युक्ति, 1459
4. यम्हिझानं च पञ्जा च स वे निब्बान सन्तिके। —धम्मपद, 25/13
5. ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्रं वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते॥ —तत्त्वानुशासन, 67
6. ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम्।
—हेमचन्द्र कृत योगशास्त्र, 7/1
7. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। —योगदर्शन, व्यास भाष्य, 1/1
8. एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योग निरोधो वा ध्यानम्।
—मनोनुशासनम्, 3/1
9. Path of Meditation, p. 1
10. ibid., p. 37

★

महाभारत, वसुदेवहिण्डी प्रभृति ग्रन्थों से गृहीत कथानक में यथावश्यक परिवर्तन कर उसे नाटकीय स्वरूप प्रदान किया है। इसमें प्रायः सभी नाटकीय तत्त्वों का सफल सन्निवेश हुआ है।

किसी भी काव्य का सौन्दर्य उसमें निहित प्राञ्जल अनुभूति और उसकी सुष्ठु अभिव्यक्ति पर निर्भर होता है। इसी को शास्त्रीय शब्दावली में भाव-पक्ष और कला-पक्ष कहा जाता है। जिस काव्य में ये दोनों पक्ष अपने समुन्नत रूप में होते हैं, वही काव्य सफल और श्रेष्ठ माना जाता है। **नलविलास** रामचन्द्रसूरि की प्रौढ़ नाट्यकृति है। इसमें उक्त दोनों पक्षों का मञ्जुल समन्वय विद्यमान है। यहाँ इसी तथ्य का उद्घाटन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा रहा है :—

१. रसाभिव्यक्ति
२. संवाद-योजना
३. गुण-निरूपण
४. रीति-विवेचन
५. अलङ्कार योजना
६. छन्द-विधान

१. रसाभिव्यक्ति :—

रस की अभिव्यञ्जना या प्रेक्षकों के हृदय में रसोद्रेक करना ही नाटक का प्रधान लक्ष्य है। इसमें शृङ्गार या वीर को अंगीरूप में और अन्य रसों को अंगरूप में रखने का विधान है।[1] रामचन्द्र सूरि रस-परिपाक की कला में पूर्णतः निष्णात हैं। उन्होंने **नलविलास** में रस को नाट्य का प्राणतत्त्व मानते हुए[2] बड़ी कुशलता के साथ शृङ्गार को अंगीरस के रूप में और शेष को अंगरूप में चित्रित किया है।

नलविलास में शृङ्गाररस के सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों पक्षों का मनोरम परिपाक हुआ है। प्रारम्भ में विप्रलम्भशृंगार के इच्छा या पूर्वराग का वर्णन है। प्रथम अंक में दमयन्ती के चित्रपट को देखकर राजा नल मुग्ध हो जाता है और इस शोकयुक्त संसार में भी मृगनयनी की ऐसी रूपलक्ष्मी के विद्यमान रहते क्लेशाकीर्ण

तप के प्रति स्वर्गभोगोत्सुक प्राणियों की प्रवृत्ति को मूर्खतापूर्ण मानता है।[3] कलहंस-वर्णित दमयन्ती-सौन्दर्य-सङ्कथा को सुनकर नल उस शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा में विह्वल हैं, जिसमें दमयन्ती के मुखचन्द्र के संसर्ग से उसके अक्षिकुमुद प्रफुल्लित होंगे।[4] उक्त पद्यों में नल की दमयन्ती-विषयक 'रति' स्थायीभाव, दमयन्ती आलम्बन और उसकी अनुपम रूप-राशि उद्दीपन विभाव हैं। नल की चेष्टायें अनुभाव और चिन्ता, आवेग, औत्सुक्य आदि सञ्चारी भाव हैं। इन सबके संयोग से परिपुष्ट रति विप्रलम्भशृङ्गार के रूप में अभिव्यक्त हो रही है।

चतुर्थ अंक में दमयन्ती की विगत अनुराग-चेष्टाओं का स्मरण करते हुए नल अत्यधिक विह्वल है, जिसमें स्मृति-दशा का मनोरम चित्रण हुआ है।[5]

देशान्तरगमन के समय नल अपनी पत्नी दमयन्ती को निर्जन वन में सुप्तावस्था में त्याग कर चला जाता है। दमयन्ती जागने पर अनेक वन्यजीवों से अपने पति के विषय में पूछती है, जिसमें उन्माद-दशा का वर्णन हुआ है—

मातः ! कुञ्जरपत्नि ! तात हरिण ! भ्राः शिखण्डिन् ! कृपा
कृत्वा ब्रूत मनाक् प्रसीदत कृतो युष्माकमेषोऽञ्जलिः।
दृष्टः क्वापि गवेषयन्निह वने भीमात्मजां नैषधो
भूपालः सरणिं सृजन्नविरलैर्बाष्पोर्मिभिः पङ्किलाम् ॥[6]

यहाँ दमयन्ती की नलविषयक रति स्थायीभाव, नल आलम्बन विभाव और दमयन्ती की विविधविध पीड़ाएँ उद्दीपन विभाव हैं। दमयन्ती का वन्यजीवों से करबद्ध निवेदन अनुभाव और स्मृति, विषाद, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। अतः विप्रलम्भशृंगार का परिपाक हो रहा है।

पति-वियोग से दुःखी दमयन्ती अपने जीवन को समाप्त करने के लिए सिंह-शावक के समक्ष पहुँचकर उससे दुःखमुक्त करने का

अनुरोध करती है।[7] यहाँ दमयन्ती की रति स्थायीभाव और नल आलम्बन विभाव है। दमयन्ती की पीड़ाएँ उद्दीपन विभाव, उसका प्राण-परित्याग के लिए उद्यत होना अनुभाव और स्मृति, निर्वेद, चिन्ता ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। इन सबके संयोग से परिपुष्ट रति विप्रलम्भ शृंगार के रूप में अभिव्यक्त हो रही है।

नलविलास में सम्भोग शृङ्गार का चित्रण तृतीय, चतुर्थ और सप्तम अङ्क में हुआ है। तृतीय अङ्क में कुसुमाकरोधान में अनुकूल अवसर पाकर नल अपनी प्रेयसी दमयन्ती का हाथ पकड़ लेता है और उसको वसन्त की साक्षात् शोभा के रूप में देखता है—

इमौ प्रेङ्खे कर्णौ वदनमिदमिन्दुः स्फुटकलः
कलः सोऽयं नादस्तरुणकलकण्ठीकलकलः।
इयं मल्लीवल्लीपुलकमुकुलाङ्का भुजलता
वसन्तश्रीः साक्षात् त्वमसि मदिराक्षि ! ध्रुवमतः ॥[8]

यहाँ नल की दमयन्ती-विषयक रति स्थायीभाव और दमयन्ती आलम्बन विभाव है। दमयन्ती का मुखचन्द्र, मधुरकण्ठ, सुन्दर भुजायें, मतवाले नेत्र और वसन्त ऋतु उद्दीपन विभाव हैं। सस्नेहावलोकन, स्पर्श और रति-सूचक चेष्टायें अनुभाव हैं। हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। अतएव सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति हो रही है।

मुग्धा नायिका होने के कारण दमयन्ती बार-बार लज्जा का अनुभव करती है परन्तु उसकी शारीरिक दशाओं से उसकी आसक्ति का स्पष्ट आभास हो रहा है—

वक्त्रेन्दुः स्मितमातनोदधिगते दृष्टी विकासश्रियं
बाहू कण्टककोरकाण्वविभृतं प्राप्ता गिरो गौरवम्।
किं नाङ्गानि तवातिशेयमसृजन् स्वस्वापतेयोचितं ?
सम्प्राप्ते मयि नैतदुज्झति कुचद्वन्द्वं पुनः स्तब्धताम् ॥[9]

नल-कथित इस प्रसंग में रति स्थायी भाव और दमयन्ती आलम्बन विभाव है। दमयन्ती का प्रफुल्लित मुख, नेत्र विकास, कुचों का

स्तब्धता-त्याग आदि उद्दीपन विभाव, नल की रति-सूचक चेष्टायें अनुभाव और हर्ष, लज्जा आदि संचारी भाव हैं। इन सबके संयोग से सम्भोग शृङ्गार अभिव्यक्त हो रहा है। मुग्धा-नायिका का इतना सूक्ष्म और मनोरम चित्रण विरले स्थानों पर ही दृष्टिगोचर होता है।

नलविलास में अभिव्यक्त अङ्गरसों में करुण की प्रधानता है। पञ्चम और षष्ठ अङ्क मे इसकी मर्मस्पर्शी अभिव्यञ्जना कवि की प्रतिभा का उत्कृष्ट निदर्शन है। युवराज कूबर के हाथों द्यूत में सर्वस्व पराजित नल के देशान्तरगमन के समय राज्यभ्रंशरूप विभाव से उत्पन्न करुणरस की निष्पत्ति अत्यन्त हृदयद्रावक है परन्तु इसका वास्तविक चरमोत्कर्ष षष्ठ अंक के गर्भाङ्क में उपलब्ध होता है। नलान्वेषण नाटक में प्रयुक्त दमयन्ती के प्रतिविम्ब को देखने से नल को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि दमयन्ती की जीवन-लीला समाप्त हो चुकी है। वह दमयन्ती की भूमिका में प्रयुक्त अभिनेत्री के करुण क्रन्दन को सुनकर अपनी श्रवणेन्द्रियों को बाधिर्य और नेत्रों को अन्धत्व धारण करने को कहता है, जिससे वह इस तारस्वर-रुदन को न सुन सके और न इस विरह-व्यथिता को देख सके।[10]

नल का शोक निरन्तर वृद्धिगत हो रहा है। वह मन ही मन पृथ्वी-माता से पातालगामी विवर की याचना करता है, जिसमें समाकर वह शेषनाग के विषैले फणाश्रम में सदैव के लिए शान्त हो जाय।[11]

इसी प्रकार सप्तम अङ्क में नल के मरण-प्रवाद को सुनने पर दमयन्ती द्वारा चितारोहण के लिए उद्यत होने के प्रसंग में भी करुण रस की बहुत मार्मिक व्यञ्जना हुई है।

हास्यरस का भी बहुत स्वाभाविक परिपाक हुआ है। इसमें हास्य का प्रमुख स्रोत विदूषक है। प्रथम अङ्क में वह नल से क्रुद्ध होकर कहता है कि मैं तुम्हारे पास नहीं बैठूँगा, बल्कि अपनी ब्राह्मणी के चरणों की सेवा करूँगा—न तुह सयासे वि चिट्ठिस्सं, किंतु गरुअनिअबंभणीए चलणाणं सेविस्सं।[12] वह स्थूलवदना लम्ब-

स्तनी को सतर्क करता है कि यह आसन आपसे दुर्बल है, इसलिए आपको सावधानी से बैठना चाहिए।[13]

कवि ने विदूषक के अतिरिक्त कुछ अन्य पात्रों द्वारा भी शिष्ट हास्यरस की योजना की है।

रौद्ररस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। प्रथम अंक में कापालिक-विदूषक विवाद और सप्तम् अङ्क में नल का मरण-प्रवाद फैलाने वाले कापालिक को क्रुद्ध नल द्वारा डांटने के प्रसंग में रौद्ररस की अभिव्यञ्जना विशेष उल्लेखनीय है।

प्रणय-प्रधान रचना होते हुए भी **नलविलास** में वीररस का सम्यक् परिपाक हुआ है। चतुर्थ अङ्क में दमयन्ती-स्वयंवर के समय अभ्यागत शासकों के पराक्रम-वर्णन में वीररस की अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रभावशाली है। उदाहरणार्थ, गौडेश्वर का वर्णन।[15]

यत्र-तत्र भयानक रस की भी अभिव्यक्ति हुई है। षष्ठ अङ्क के गर्भाङ्क में सिंह-शावक की भयङ्करता के वर्णन में भयानक रस की निष्पत्ति अत्यन्त सफल है।[16]

नाट्याचार्यों ने नाटक की अन्तिम सन्धि-निर्वहण में अद्भुत-रस का समावेश होना आवश्यक माना है।[17] **नलविलास** के सप्तम अङ्क में नल के मरण-प्रवाद को सुनकर दमयन्ती चितारोहण करना चाहती है, तभी नल पहुँच जाता है। परन्तु अपने स्वर्गीय पिता की कृपा से प्रच्छन्नरूप होने के कारण उसे कोई पहचान नहीं पाता। जब उसने देखा कि अब सर्वनाश की स्थिति आने वाली है, तब वह अपने पिता द्वारा बतलायी गयी विधि से अपने पूर्वरूप में प्रकट होकर दमयन्ती की रक्षा करता है। इस प्रकार यहाँ अद्भुत रस की योजना अत्यन्त प्रभावशाली है।

२. संवाद-योजना --

रूपक में दो या दो से अधिक पात्रों के मध्य प्रसङ्ग, आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुरूप परस्पर वार्तालाप, विचार-

विमर्श और वाद-विवाद के लिए जो वाग्व्यापार होता है, उसे संवाद कहते हैं। ये संवाद किसी न किसी भाषा में होते हैं। भरत ने नाट्य के लिए जाति भाषा का प्रयोग श्रेयस्कर माना है, जिसके संस्कृत और प्राकृत दो रूप होते हैं।[18] **नलविलास** में उक्त दोनों भाषाओं का प्रयोग शास्त्रीय नियमानुसार हुआ है। इसमें सर्वत्र सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता व्याप्त है। शृङ्गारिक वर्णनों में प्रयुक्त कोमलकान्तपदावली सहृदयों को रस-विभोर कर देती है। कवि का शब्द-चयन एवं संयोजन बहुत प्रशंसनीय है। उन्होंने प्रत्येक शब्द को अमूल्य मुक्तावली के मनकों की भांति सँजोया है। कुछ स्थलों पर ऐसे अर्थ सापेक्ष शब्दों का प्रयोग हुआ है कि उनके स्थान पर पर्यायवाची रख देने से सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। भाषा पर कवि का असाधारण अधिकार है। उन्होंने सर्वत्र रस, भाव, प्रसङ्ग और पात्र के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। इसलिए उनके संवाद किसी नाटक के नहीं, अपितु वास्तविक जीवन के वार्तालाप के समान प्रतीत होते हैं।

रामचन्द्रसूरि संवाद-कला के विशेषज्ञ हैं। उन्होंने आवश्यकतानुसार प्रकाश, स्वगत, अपवारित, जनान्तिक और आकाशोक्ति—इन सभी संवाद-भेदों का समुचित प्रयोग किया है। उनके गद्य और पद्य दोनों ही अत्यन्त रोचक और प्रभावोत्पादक हैं। रस, भाव और वातावरण की सृष्टि में उनसे पर्याप्त सहयोग मिलता है। उनके गद्यात्मक संवाद प्रायः सरल, सजीव, स्वाभाविक एवं लघु आकार वाले हैं। लम्बे संवादों में भी वाक्यों की लघुता के कारण बोधगम्यता और प्रभावोत्पादकता बनी रहती है। मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों के प्रयोग से भावाभिव्यक्ति में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। विविधविध संबोधनों के प्रयोग में कवि का नाट्य-नैपुण्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उनके संवादों में सहृदयों को द्रवीभूत करने की अद्भुत क्षमता है। अस्तु **नलविलास** की संवाद-योजना पूर्ण सफल है।

३. गुण-निरूपण —

काव्य में गुणों की स्थिति अनिवार्य है, इसीलिए मम्मट ने काव्य को सगुण होना आवश्यक माना है।[19] गुणों के भेद के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है परन्तु अधिकांश आचार्यों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद रूप गुणत्रय को ही मान्यता दी है।

नलविलास रस प्रधान नाटक है। इसमें तीनों गुणों का समुचित प्रयोग हुआ है। शृङ्गार रस के वर्णन में श्रुतिमधुर एवं सुकुमार वर्णों के प्रयोग द्वारा माधुर्य गुण की योजना द्रष्टव्य है।[20]

करुण रस के परिप्रेक्ष्य में भी माधुर्य गुण की योजना मनोरम है। उदाहरणार्थ, दमयन्ती को मृत मान लेने पर नल की उक्ति।[21]

मम्मट के अनुसार दीप्तिरूप चित्त के विस्तार का हेतु ओजगुण है, जिसकी स्थिति वीररस में होती है।[22] दीप्ति चित्त की एक विशेष वृत्ति है। इसमें चित्त का विस्तार सा हो जाता है। यह दीप्ति प्रायः प्रतिकूल विषयों के प्रति होती है। इस दीप्ति का जनकरूप जो रस का धर्म है, उसे ओज कहते हैं। ओजगुण सामान्यतः वीररस में रहता है, किन्तु वीर की अपेक्षा बीभत्स और बीभत्स की अपेक्षा रौद्र में इसका अधिक्य रहता है। **नलविलास** में कई स्थलों पर ओजगुण का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, दीर्घसमास, उद्धत पदसङ्घटना, कर्कश, क्लिष्ट, संयुक्ताक्षरों से युक्त गौडेश्वर-वर्णन।

काव्य में प्रसाद गुण की सर्वाधिक महत्ता है। प्रायः प्रसाद गुणोपेत रचनायें ही साहित्य-जगत में ख्याति अर्जित कर पाती हैं। मम्मट की दृष्टि में शुष्क काष्ठ में अग्नि के समान और स्वच्छ वस्त्र में जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाय, उसे प्रसाद गुण कहते हैं। इसका प्रयोग सभी रसों में होता है।[23] **नलविलास** में प्रसादगुणोपेत पद्यों की प्रचुरता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत हैं—

चित्रं त्रस्तैणशावाक्षि ! त्वत्पाणिग्रहणोत्सवः।
सन्तापस्य निहन्ता नः प्रतापस्य तु कारणम् ॥[24]

४. रीति-विवेचन —

काव्य के रसोत्कर्षक हेतुओं में गुणालङ्कारादि की भांति रीति का भी अत्यधिक महत्त्व है। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए उसे विशिष्ट पद रचना के रूप में परिभाषित किया है।[25] विश्वनाथ ने शारीरिक अवयवों के परस्पर अनुकूल संगठन की भांति पदों की सङ्घटना को रीति माना है।[26] रीति-भेदों के विषय में मतैक्य न होते हुए भी वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली रूप रीतित्रय की सत्ता विशेष मान्य है।

रामचन्द्रसूरि वैदर्भी रीति के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने **नलविलास** के प्रारम्भ में ही अपना अभिमत इस विषय में प्रकट किया है।[27]

विश्वनाथ के अनुसार जिसमें माधुर्यगुण व्यञ्जक वर्णों के द्वारा समासरहित या अल्पसमास वाली ललित रचना की जाती है, उसे वैदर्भी रीति कहते हैं।[28] वामन ने इसमें सभी गुणों का समावेश होना आवश्यक माना है। इसका व्यवहार शृङ्गार, करुण आदि रसों में होता है। **नलविलास** की रचना वैदर्भी रीति में की गयी है।

यहाँ सौन्दर्य-वर्णन के अनुकूल श्रुतिसुखदा, अल्पसमासा और कोमलकान्त पदावली के प्रयोग के द्वारा माधुर्य गुण की व्यञ्जना की गई है।

५. अलङ्कार-योजना —

मानव स्वभावतः सौन्दर्य प्रेमी है। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सौन्दर्य ही सौन्दर्य देखना चाहता है। उसकी पैनी दृष्टि काव्य जगत में भी सौन्दर्य का निरीक्षण करती है। सौन्दर्य-वर्धन के हेतुओं में अलङ्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये अलङ्कार जहाँ एक ओर भावों को सजाने और रमणीय बनाने में योगदान करते हैं, वहीं दूसरी ओर भावाभिव्यक्ति को प्रभावशाली भी बनाते हैं। **नलविलास**

में अलङ्कारों का प्रयोग प्रायः रस या प्रेषणीय भाव के उपकारक धर्म के रूप में होने के कारण सर्वत्र सरलता एवं स्वाभाविकता विद्यमान है।

शब्दालङ्कार ध्वन्याश्रित होते हैं। ये किसी शब्द विशेष की उपस्थिति में तो रहते हैं किन्तु उस शब्द का पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर समाप्त हो जाते हैं। इनके प्रयोग से काव्य में ध्वन्यात्मकता, संगीतात्मकता और चमत्कार की सृष्टि होती है। **नलविलास** में शब्दालङ्कारों में अनुप्रास का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। यत्र-तत्र यमक और श्लेष का भी पुट प्राप्त होता है।

अर्थालङ्कार शब्दाश्रित न होकर अर्थाश्रित होते हैं। **नलविलास** में विविधविध अर्थालङ्कारों का प्रयोग हुआ है, जिनमें से कुछ प्रमुख अर्थालङ्कार हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, रुपक, निदर्शना, दीपक, व्यतिरेक, यथासंख्य, व्याजस्तुति, परिकर, प्रत्यनीक और प्रतीप।

इस प्रकार **नलविलास** में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के अनेक भेदों की स्वाभाविक योजना दिखायी पड़ती है, जो नाटक में शब्दगत और अर्थगत चमत्कारों का सृजन करते हुए सर्वत्र रस-परिपाक में सहायक है।

६. छन्द-विधान—

काव्य में सौन्दर्य का आधान करने वाले तत्त्वों में छन्दों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये भाव को यथावत् गति प्रदान करते हुए रस-परिपाक में सहायक होते हैं। छन्द के कलेवर में गुम्फित भाव श्रोताओं को मन्त्र मुग्ध कर देता है, क्योंकि इसमें लय की अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली योजना रहती है। इसीलिये छन्द को काव्य-शरीर के पादरूप में स्वीकार कर उसकी सुदृढ़ अनिवार्यता का प्रतिपादन किया गया है।

रामचन्द्रसूरि ने **नलविलास** में मात्रिक और वर्णिक दोनों छन्दों का प्रयोग किया है। सम्पूर्ण नाटक में १५९ पद्य हैं, जिसमें १५२ संस्कृत में और ७ प्राकृत भाषा में हैं। संस्कृत पद्यों के

लिए आर्या, अनुष्टुप्, पथ्यावक्त्र, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शिखरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग हुआ है। प्राकृत पद्यों के लिए केवल आर्या का ही चयन किया गया है। **नलविलास** में छन्दों का प्रयोग सर्वत्र रस, भाव और वर्ण्यविषय के अनुरूप हुआ है। दीर्घ कथाओं को संक्षिप्त करने और उपदेशात्मक कथनों के लिए अनुष्टुप् का प्रयोग हुआ है। नायिका-वियोग आर्या छन्द में और नायक-वियोग प्रायः शिखरिणी छन्द में है। प्रकृति-चित्रण, प्रेमालाप आदि के लिए वसन्ततिलका और हर्षपूर्ण कथनों में प्रहर्षिणी का प्रयोग हुआ है। नायिका का सौन्दर्य-वर्णन मालिनी और हरिणी में निबद्ध है। शासकों के शौर्यवर्णन, प्रशस्ति एवं विपत्ति वर्णन में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार समुचित छन्द-योजना के कारण **नलविलास** अत्यन्त ललित एवं मनभावन बन गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि **नलविलास** नाटक में रस, संवाद, गुण, रीति, अलङ्कार, छन्द आदि की समुचित योजना की गयी है। इसीलिए जैन-संस्कृत नाट्य वाङ्मय में इसकी विशिष्ट प्रतिष्ठा है।

सन्दर्भ—

1. **साहित्यदर्पण**, 6/6 2. सपर्णः – देव ! रसप्राणो नाट्यविधिः – **नलविलास**, पृ० 77 3. वही, 1/21 4. वही, 2/8 5. वही, 4/2 6. वही, 6/8 7. वही, 6/21 8. वही, 3/23 9. वही, 3/26 10. वही, 6/11 11. वही, 6/15 12. वही, पृष्ठ 5 13. वही, पृष्ठ 24 14. वही, पृष्ठ 39 15. वही, 4/13 16. वही, पृष्ठ 74 17. **नाट्यदर्पण**, 1/15 18. **नाट्यशास्त्र**, 18/26-30 19. **काव्यप्रकाश**, 1/1 20. **नलविलास**, 3/28 21. वही, 6/11 22. **काव्यप्रकाश**, 8/91 23. वही, 8/93 24. **नलविलास**, 3/25 25. **काव्यालंकारसूत्र**, 1/2/6-7 26. **सा० द०**, 9/1 27. **नलविलास**, 1/1 28. **सा० द०**, 9/2

★

वाचक कुशल लाभ और उनकी रचनाएं

—श्री वेद प्रकाश गर्ग

वाचक[1] कुशल लाभ के जीवन-वृत्त के संबंध में अत्यल्प सूचनाये उपलब्ध हैं। ये जैन मुनि थे और खरतर गच्छीय जैनाचार्य अभयधर्म उपाध्याय के शिष्य थे।[2] इनके जन्म एवं मृत्यु काल के संदर्भ में पुष्ट सूचनाओं का अभाव है। इसीलिए विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान किए हैं। श्री अगर चन्द नाहटा एवं डॉ० मोती लाल मेनारिया ने सं० १५८० के आसपास इनका जन्म होना माना है।[3] कवि की प्राप्त रचनाओं पर विचार कर डॉ० केदार मिश्र ने इनका जन्म सं० १५७५ वि० के लगभग और अवसान काल सं० १६६० के आस-पास निर्धारित किया है।[4] रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में इन तिथियों को स्वीकार किया जा सकता है। ये राजस्थान (मारवाड) निबासी थे, ऐसा भाषा के आधार पर अनुमान होता है, किंतु जन्म-स्थान के सम्बन्ध में निश्चित् रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

कवि कृत **पिंगल शिरोमणि** आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कुशल लाभ जैसलमेर के रावल मालदेव भाटी के कुंअर हरराज के काव्य-गुरू थे। इससे ज्ञात होता है कि कुशल लाभ कुं० हरराज के सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही आचार्य रुप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। **पिंगल शिरोमणि** ग्रन्थ एवं **माधवानल कामकंदला चौपई** की रचना उन्होंने कुं० हरराज को काव्य-शिक्षा देने हेतु की थी और रावल हरराज के आग्रह पर **ढोला मारवणी चौपई** की रचना की थी।

डा० केदार मिश्र के उल्लेखानुसार आचार्य कुशल लाभ कृत निम्नलिखित १८ ग्रन्थ उपलब्ध हैं[5]—

१. **पिंगल शिरोमणि** (सं० १६१२-१५), २. **माधवानल कामकंदला चौपई** (सं० १६१६), ३. **ढोला मारवणी चौपई** (सं०

१६१७), ४. **जिनपालित जिनरक्षित संधि गाथा** (सं० १६२१), ५. **पार्श्वनाथदशभव स्तवन** (सं० १६२१), ६. **तेजसार रास** (सं० १६२४), ७. **अगडदत्त रास** (सं० १६२५), ८. **स्तंभन पार्श्वनाथ स्तवन** (सं० १६३८), ९. **भीमसेन हंसराज चौपई** (सं० १६४३), १०. **शत्रुंजय यात्रा स्तवन** (सं० १६४४), ११. **श्री पूज्यवाहन गीत**, १२. **गौडी पार्श्वनाथ छंद**, १३. **नवकार छंद**, १४. **स्थूलिभद्र छतीसी**, १५. **महामाईदुर्गा सातसी**, १६. **जगदम्बा छंद**, १७. **ज्ञानदीप** और १८ **कवित्त-सवैया**।

कुशल लाभ एक अच्छे पंडित एवं सुकवि थे। उपर्युक्त प्रथम तीन कृतियों के आधार पर कुशल लाभ का आचार्य व कवि-नायक रूप सिद्ध होता है। **माधवानल कामकंदला चौपई** तथा **ढोला मारवणी चौपई** कुशल लाभ को रस सिद्ध कवि एवं आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। अन्य रचनाओं से उनका एक जैन धर्मज्ञ कवि रूप प्रकट होता है।

अब कुछ मुख्य कृतियों का परिचय विस्तार से दिया जा रहा है—

पिंगल शिरोमणि – इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि आचार्य कुशल लाभ जैसलमेर के युवराज कुं० हरराज भाटी के श्रद्धास्पद काव्य-गुरू थे। उन्होंने युवराज को काव्य की शिक्षा देने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की थी—

राउल माल सुपाट पति, तासकुंवर हरिराज।
कुशल लाभ कवि वरण्या, जास कुतूहल राज॥

कुछ विद्वानों ने 'हरराज' को ही इस ग्रन्थ का रचनाकार होना माना है, जो भ्रांतिमूलक है। ग्रन्थ की पुष्पिका में प्रयुक्त 'हरराज कृत' वाक्य मात्र आश्रय दाता के प्रति कृतज्ञता का सूचक है, रचयिता का नहीं। ऐसे और भी उदाहरण देखने में आते हैं।[6]

इस कृति के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इस रचना के अन्त में एक छन्द इस रूप में मिलता है—

पाण्डव मुनि सर मेदनी, सुकुल पक्ष्य नभमास ।
तिथि नवमी रविवार तिम जैसल हरीचन्द वास ।।

ग्रन्थ-संपादक डा० नारायण सिंह भाटी ने इस-छंद को अशुद्ध एवं लिपिकार की त्रुटि मानते हुए कृति का रचना-काल सं० १६१८ वि० के आस-पास निर्धारित किया है ।[7] डा० व्रजमोहन जावलिया ने 'पांडव मुनि सर मेदनी' में लिपि-दोष मानते हुए 'पांडव मुनि रस मेदनी' के संशोधन के साथ कृति का रचना-काल सं० १६३५ माना है[8], जिसे कुं० हरराज के सन्दर्भ में स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

डा० केदार मिश्र के अनुसार यह **पिंगल शिरोमणि** का रचना काल नहीं, अपितु कवि का जन्म-संवत सिद्ध होता है ।[9] मिश्र जी के इस विचार में यह तो सही है कि उक्त सं० १५७५ रचना-काल नहीं हो सकता और यह भी सम्भव है कि कवि का जन्म इस संवत में हुआ हो, जैसा डा० साहब ने कवि का जन्म इस संवत में (या इसके लगभग) निश्चित किया भी है, किन्तु कवि ने स्वयं अपने जन्म-संवत के रूप में इसका उल्लेख ग्रंथ-पुष्पिका के छंदों में किया होगा, संभव नहीं है । अतः मिश्र जी का ऐसा सोचना कि पुष्पिका में इसका उल्लेख जन्म-संवत् के रूप में हुआ है, सही नहीं है ।

इस दोहे की संख्यात्मक स्थिति के सम्बन्ध में मेरा भी एक सुझाव है । मेरे विचार में सही पाठ 'पाण्डव भुवि रस मेदनी' (१६१५) था, जो लिपि-दोष से विकृत होकर उक्त रूप में हमारे सामने है ।[10] यदि मेरे इस संशोधन को स्वीकार कर लिया जाय तो रचना-काल सम्बन्धी उलझन का निराकरण स्वतः हो जाएगा । फिर इसमें ज्योतिषीय विस्तार विद्यमान है । अतः ज्योतिष-गणना के आधार पर इसकी सही वास्तविकता को रखा जा सकता है । मेरी राय में **पिंगल शिरोमणि** की रचना-तिथि सं० १६१५ श्रावण शुक्ल ९ रविवार है, जो कुंवर हरराज के संदर्भ में पूर्णतया सही है।

पिंगल शिरोमणि मुख्यतः छंद–विषयक ग्रंथ है, किन्तु इसमें छंदों के अतिरिक्त कोश और अलंकारों आदि का भी वर्णन हुआ है। ८ अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में निम्नलिखित विषय वर्गीकृत हैं :

१. वर्णावर्ण छंद संज्ञा कथन, २–३. छंदो का निरूपण ४. मात्रा प्रकरण, ५. वर्ण प्रस्तार-उद्दिष्ट-नष्ट-निरूपताका-मर्कटी आदि षोडश लक्षण, ६. अलंकार वर्णन ७. डिंगल नाममाला, और ८. गीत प्रकरण।

ग्रंथ में विषय का विवेचन सोदाहरण है। उदाहरणों में शंकर-कथा, राम-कथा एवं अन्य देवी-देवताओं के अतिरिक्त कुं० हरराज का यश-निरूपण है। यह मात्र छंद शास्त्रीय ग्रंथ नहीं है, अपितु इसमें काव्य के विविध अंगों का विवेचन हुआ है। 'डिंगल नाम माला' से स्पष्ट होता है कि कवि का डिंगल भाषा पर पूर्ण अधिकार था। पं० अंबालाल प्रे० शाह ने **पिंगल शिरोमणि** को संस्कृत भाषा की रचना होना लिखा है[11], जो भ्रमात्मक एवं अशुद्ध है।

पिंगल शिरोमणि काव्यांग-विवेचन का विशिष्ट ग्रंथ है, जिसमें 'पिंगल' को काव्यात्मा के रूप में स्थापित किया गया है। अतः यह 'पिंगल-संप्रदाय' का आद्य स्थापक ग्रंथ है। इसमें स्थान-स्थान पर प्रश्नोत्तर शैली का उपयोग हुआ है।[12] साथ ही इसमें विषय-विवेचन की स्पष्टता हेतु वार्ता आदि के रूप में गद्य का भी प्रचुर उपयोग किया गया है। इस महत्त्व शाली ग्रंथ का प्रकाशन **परम्परा** (जोधपुर) भाग १३ के विशेषांक रूप में हुआ है। इस ग्रंथ का महत्त्व इस दृष्टि से भी विशेष है कि इसी ग्रंथ में सर्वप्रथम 'चंद-वरदाई रासा रौ कर्ता' का उल्लेख मिलता है[13], जिसमें चंद बरदाई एवं रासो की प्राचीनता एवं विश्वसनीयता पर प्रकाश पड़ता है। इस संदर्भ का ऐतिहासिक मूल्य है।

माधवानल कामकंदला चौपई – प्रचलित लोक कथा के आधार पर कवि ने इस ग्रंथ की रचना जैसलमेर के कुंवर हरराज के आग्रह

पर ही की थी ।[14] यह ग्रंथ भारतीय विद्या भवन बम्बई परम्परा का प्रबंध चरित है । इसमें माधवानल और कामकंदला की शृंगार-कथा (प्रेमकथा) का वर्णन है । इसे 'माधवानल-कामकंदला' रास भी कहते हैं । यह रचना गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित है । इसकी रचना सं० १६१६ फागुन शुक्ल १३ रविवार को, जैसलमेर में हुई थी ।

संवत सोल सोलोतरइं, जेसल मेरु मझारि,
फागुण सुदि तेरसि दिवसे विरची आदितिवार ।

डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने अपने शोध-प्रबन्ध में इस कृति का रचना-काल सं० १६१३ और श्री अगर चन्द नाहटा ने अपने एक लेख में सं० १६१७ लिखा है [15] जो सही नहीं हैं । इस रचना की सं० १६३८ की एक प्राचीन प्रति उपलब्ध है ।[16]

ढोला मारवणी चौपई — इस रचना में राजस्थान के सुप्रख्यात ग्रंन्थ 'ढोला मारूरा दूहा' को चौपई-बंध किया गया है अर्थात् कवि ने 'दूहो' में चौपाइयाँ मिलाकर इसमें प्रबन्धात्मकता उत्पन्न कर दी है । इसमें राजस्थान की प्रसिद्ध प्रेमकथा का, जो ढोला और मारू के प्रेम पर आधारित है, वर्णन किया गया है । इस प्रकार यह एक प्रबन्धकाव्य ही है । इसे रास और वार्ता आदि नामों से भी पुकारा जाता है । इसमें ७०० कड़ी हैं और इसकी रचना जैसलमेर के रावल हरराज के लिए सं० १६१७ वैशाख सुदि ३ गुरुवार को हुई थी—

गाथा सातसइ अेह प्रमाण, दूहा नइ चउपइ बषाण ।
यादव राउल श्री हरिराज, जोड़ी तास कुतूहल काजि ।
संवत सोल सय सत्तरोत्तरइ, अषा त्रीजि वार सुर गुरुइ,
जोड़ी जैसलमेर मझारि, सुणतां सुख पामड़ संसार ।

इसके रचना-काल के रूप में सं० १६१८, सं० १६१६, सं० १६०७ व सं० १६७३ के अन्य प्राप्त उल्लेख[17] अशुद्ध हैं । यह

ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है। इसका एक अन्य संस्करण श्री महावीर सिंह गहलौत ने भी प्रकाशित कराया था। इस रचना की प्राचीन हस्तलिखित प्रति सं० १६५१ वि० की प्राप्त है।[18] ढोला-मारू-काव्य के चार रूपान्तर मिलते हैं, जिनमें कुशल लाभ वाला संस्करण (जिसमें दूहे और चौपाईयाँ हैं) प्राचीनता की दृष्टि से इसका दूसरा रूपान्तर है।

प्राय: सभी लेखकों ने इस ग्रन्थ को युवराज [कुं०] हरराज के निमित्त लिखे जाने का उल्लेख किया है, जो सही नहीं है। वस्तुत: इसकी रचना कुंवर हरराज के लिए न होकर रावल हरराज के लिए हुई थी अर्थात् जब इस ग्रन्थ की रचना हुई, तब कुंवर हरराज अपने पिता के स्थान पर जैसलमेर के 'रावल' बन चुके थे। कवि ने स्पष्ट रूप से 'रावल हरराज' का उल्लेख किया है, कुं० हरराज का नहीं। अत: माल देव का शासन सं० १६१६ तक ठहरता है, सं० १६१८ तक नहीं।

ढोला-मारवणी विषयक यह काव्य भाषा एवं भाव, दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण है और जनमानस का प्रतिनिधित्व करता है। यह राजस्थानी लोकभाषा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। लोक कथात्मक उक्त दोनों रचनायें कुशल लाभ की अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कृतियाँ हैं, जो हिन्दी-पाठकों के लिये सुपरिचित हैं। ये दोनों रचनाये 'काव्य आनन्द महोदधि' में भी प्रकाशित हैं।

उपर्युक्त इन तीन रचनाओं के अतिरिक्त कवि की अन्य रचनायें शांत रस प्रधान धार्मिक कृतियाँ हैं। **श्री पूज्य वाहण गीत** ६७ छन्दों की रचना है, जिसमें अनेक सरस काव्यात्मक स्थल हैं। इसमें गुरु-वाणी का माहात्म्य दर्शाया गया है और यह 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' में प्रकाशित है।[19] **जिन पालित जिन रक्षित संधि-गाथा'** में ८९ गाथा हैं और इसकी रचना सं० १६२१ श्रावण सुदि ५ को हुई थी। **तेजसार रास** या **चौपई** की रचना सं० १६२४ में वीरमपुर में हुई थी। इसमें तेजसार के दृष्टांत से पूजा-पाठ का

प्रभाव दर्शाया गया है। इस पर गुजराती भाषा का प्रभाव अधिक है। **अगड़दत्त चौपई** या **रास** में २८ कड़ी हैं और वीरमपुर में ही सं० १६२५ कार्तिक सुदि ५ गुरुवार को इसकी रचना हुई थी। **स्तंभन पार्श्वनाथ स्तवन** की रचना खंभात में हुई थी और यह प्रकाशित है। **गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन** पार्श्वनाथ जी की स्तुति में लिखी गई २३ कड़ी की रचना है। **नवकार छंद** में नवकार मंत्र का माहात्म्य १७ कड़ी में वर्णित है।। यह 'जैन काव्य प्रकाश' भाग १, में प्रकाशित है। **स्थूलिभद्र छत्तीसी** में स्थूलिभद्र की भक्ति के माध्यम से गुरु-भक्ति का उपदेश दिया गया है। अपराध हो जाने पर शिष्य उदार गुरु से क्षमा की आशा करता है। **शत्रुंजय यात्रा स्तवन** में शत्रुंजय-तीर्थ-यात्रा का माहात्म्य एवं स्तुति वर्णित है। इसका रचना-काल सं० १६४४ वि० है। कवि की एक अन्य रचना **गुणसुन्दरी चौपई** की सं० १६४८ की प्रति दिगम्बर जैन तेरह पंथी मंदिर वैणवा में सुरक्षित है।[20]

कुशल लाभ कृत रचनाओं की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है। रचना-शैली सहज और चित्ताकर्षक है। वे वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा पाठक के ध्यान को बाँधे रखने में सक्षम हैं। रचनाओं में काव्य की सरसता और भाषा की प्रौढ़ता दर्शनीय है। भाषा भावनुकूल एवं प्रभावशाली है। अलंकारों और छन्दों का यथावसर उत्तम प्रयोग कवि ने अपनी रचनाओं में किया है। उनके ग्रन्थों के अध्ययन से वे शृंगार एवं शांत, दोनों ही रसों के श्रेष्ठ कवि सिद्ध होते हैं।

वाचक कुशल लाभ राजस्थान के प्रख्यात कवियों में अग्रगण्य हैं। गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने आदर पूर्वक इनका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। आचार्य कुशल लाभ के उपलब्ध ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है।

संदर्भ-संकेत —

१. इस उपाधि से प्रतीत होता है कि कवि कथावाचक तथा धार्मिक प्रवचनकर्ता भी था।

२. 'श्री खरतरगच्छि सहिगुरुराय, गुरु श्री अभय धर्म उवझाय।' –(तेजसार रास)। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि 'खरतरगच्छ' जैन धर्म के श्वेताम्बर संप्रदाय के अन्तर्गत ही है। ये अलग-अलग नहीं हैं। अतः संदेह व्यर्थ है। दे० हिन्दी जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग-२, पृ० ११२।

३. दे० राजस्थानी भाषा और साहित्य (प्र० सं०), पृ० १४१। डॉ० मन मोहन स्वरूप माथुर ने सं० १५६० से १५६५ के लगभग कवि का जन्म होना माना है। दे० हिन्दुस्तानी, भाग ५४, अंक ३, पृ० २४।

४. दे० वही, पृ० २५। कवि कृत ग्रन्थों के अनुसार कवि सं० १६०० वि० में अलवर में (वहाँ हंस दूत काव्य की प्रतिलिपि की थी), सं० १६१२ से १६२० के आस-पास तक जैसलमेर में तथा १६२४–२५ में वीरमपुर (तेजसार रास) में रहे थे। शत्रुंजय यात्रा स्तवन (सं० १६४४) रचना से ज्ञात होता है कि कवि का अन्तिम काल सम्भवतः गुजरात में व्यतीत हुआ था।

५. दे० हिन्दुस्तानी, भाग ५४, अंक ३, पृ० २६।

६. दे० महाकवि केशवदास कृत राम चन्द्रिका की पुष्पिका– 'इति श्री इन्द्रजीत विरचितायां··· ·· ·····श्रीरामचंद्रचंद्रिकायां····· —·····।' इन्द्रजीत कवि के आश्रयदाता थे।

७. दे० परम्परा, भाग-१३, पृ० १३।

८. दे० हिन्दुस्तानी, भाग ५४, अंक ३, पृ० २७।

९. दे० वही, पृ० २५ व २७।

१०. इसमें पहले भ्रम से 'भुवि' से 'मुवि' हुआ और फिर 'मुवि' को निरर्थक जानकर 'मुनि' किया गया।

११. दे० जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग-५ (लाक्षणिक साहित्य), पृ० १३८।

१२. इस ग्रन्थ से कवि आचार्य की काव्य-शिक्षा-पद्धति एवं काव्य-सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताएं स्पष्ट होती हैं।

१३. दे० परम्परा, भाग १३, पृ० १६३।

१४. राउल माल सुपाट धर कुंवर श्री हरराज ।
विरची जै सिणगार रस, तास कतूहल काज ।। ६६५ ।।

१५. दे० (अ) **भारतीय प्रेमाख्यान काव्य**, पृ० ४४७ ; (आ) **राजस्थान भारती**, जनवरी १९४७, पृ० २२ । इसके रचना-काल के रूप में सं० १६७७ का उल्लेख भी मिलता है, जो अशुद्ध है । दे० **हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की सूची**, भाग १, पृ० २१३ (जोधपुर संस्करण) ।

१६. दे० **राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ सूची** भाग १, पृ० ६५ ।

१७. दे० (अ) **ढोला-मारू रा दूहा**, भूमिका पृ० १ (काशी ना० प्र० सभा संस्करण ; (आ) **हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण**, प्रथम भाग, पृ० ३८२ (सभा संस्करण); (इ) डा० शकुन्तला दुबे : **काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास**, पृ० १०६–१०; (ई) **राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ सूची**, भाग १, पृ० ३६ । इस ग्रन्थ को खोज विवरणों में भूल से किलोल कृत, यादव राय कृत और हरराज कृत, माना गया है । उक्त उल्लेख भ्रमात्मक हैं ।

१८. दे० **ढोला-मारू रा दूहा**, प्रस्तावना, पृ० १३ , २१० (सभा सं०) ।

१९. **ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह**, २६वां गीत, पृ० ११७ ।

२०. दे० **राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची**, ५वां भाग, पृ० ४३६ ।

——

चिन्तन कण

—श्री अजित प्रसाद जैन

तीर्थंकर गर्भावतरण पर रत्नवृष्टि

जैन आगमों के अनुसार इन्द्रादिक देवगण तीर्थंकर महाप्रभु के पांचों कल्याणक (गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष) बड़े हर्ष, उल्लास एवं भक्ति के साथ मनाते हैं। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाली महान् आत्माओं के बराबर पुण्य किसी अन्य जीव का नहीं होता। तीर्थंकर जीव के गर्भावतरण के छह मास पूर्व से १५ मास पर्यन्त (अर्थात् जन्म होने तक) इन्द्र-कुबेरादि देव उस सम्पूर्ण प्रदेश में रत्न वृष्टि करते हैं तथा कोई जन अभाव ग्रस्त नहीं रह जाता। पृथ्वी धन-धान्य से भर जाती है तथा सारी प्रजा सम्पन्न हो जाती है। यह रत्न वृष्टि प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में होती है।

शंकालु व्यक्ति शंका करते हैं कि कम से कम अन्तिम तीन **तीर्थंकर** तो ऐतिहासिक काल के हैं, किन्तु इस काल के सम्बन्ध में उपलब्ध जैनेतर धार्मिक व लौकिक साहित्य में इस चमत्कारिक घटना का कोई उल्लेख नहीं मिलता, अतः यह अवश्य ही पुराण-कारों को कपोल कल्पना रही होगी। पर हमारी समझ में उपरोक्त घटना के वर्णन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। आवश्यकता केवल उसके वास्तविक आशय को समझने की है। हमारी समझ में "रत्न वृष्टि" से आशय उत्तम जल वर्षा से ही है – ऐसी वर्षा जिससे ऋतु अनुसार शत-प्रतिशत फसल उपजे, सीपी में मोती बने, बांस में वंश-लोचन बने, धरती धन-धान्य व फल-फूल से भर जाए, सारे प्रदेश में सम्पन्नता, खुशहाली, फैल जाए। प्राचीन काल में हमारे देश की अर्थ व्यवस्था पूर्ण रूप से कृषि पर आधारित थी, यहां तक कि राजा का भी खेत होता था। और खेती पूर्ण रूप से वर्षा पर ही निर्भर करती थी, न सिंचाई के लिए नहरें थी और न कृत्रिम खाद। आज-कल भी जब सामयिक उत्तम वर्षा होती है तो लोक व्यवहार में यही कहा जाता है कि सोना बरस रहा है।

प्राचीन वाङ्मय में "रत्न" शब्द का प्रयोग केवल मणि-माणिक्य-मुक्ता के लिए ही नहीं वरन् "सर्वोत्तम – सर्वश्रेष्ठ" के अर्थों में भी हुआ है। श्वेताम्बर पौराणिक कथ्य है कि भरत दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते समय सुन्दरी से कहते हैं कि वे दिग्विजय से लौटने पर उसे स्त्री-रत्न बनायेंगे। यहाँ 'स्त्री-रत्न' का प्रयोग "पट्टरानी, साम्राज्य की सर्वोच्च या प्रथम महिला" के अर्थों में किया गया है। आज भी हमारी कई आर्यिका माताएं "आर्यिका रत्न" (अर्थात् सर्वश्रेष्ठ या सर्वोच्च आर्यिका) की उपाधि से अलंकृत है। वस्तुतः अर्थ सार्थकता की दृष्टि से रत्न या शिरोमणि उपाधि सर्व सहमति से किन्हीं एक ही आर्यिका जी को दी जानी चाहिए थी। यदि सच ही रत्न (चमकीले बहुमूल्य पत्थरों) की उस प्रदेश में १५ मास तक वर्षा होती तो सारी फसल नष्ट हो जाती तथा पृथ्वी बंजर हो जाती और न मालूम कितने जन रत्न-वर्षा की मार से हताहत होते।

छप्पन कुमारी देवांगनाएं

भगवान के गर्भकाल में छप्पन कुमारी देवांगनाएं तीर्थंकर माता की सेवा में रह कर उनका मनोरंजन करती रहती है। स्वर्ग-लोक में सभी देवी-देवता जन्म के समय से ही पूर्ण यौवन को प्राप्त होते हैं। स्वर्गलोक में न तो विवाह ही होते हैं और न संयम ही होता है। विज्ञ पाठक कृपया समाधान करें कि "कुमारी" विशेषण की यहां क्या सार्थकता है जब कि सभी देवियाँ कुमारी ही होती हैं क्योंकि किसी भी देवी का विवाह नहीं होता और संयम के अभाव के कारण न ही कोई ब्रह्मचारिणी होती हैं।

सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेक

तीर्थंकर प्रकृति के असीम पुण्य प्रताप से तीर्थंकर महाप्रभु के जन्म के समय सम्पूर्ण चराचर जगत में अपूर्व आनन्द की एक लहर फैल जाती है। यहाँ तक कि नरक के प्राणी भी जिनके असाता वेदनीय का निरन्तर तीव्र उदय रहता है, एक अन्तर्मुहूर्त के लिए

अपूर्व शांति का अनुभव करते हैं, सब दिशाएं निर्मल हो जाती हैं। सौधर्मेन्द्र अपने विशाल गजराज ऐरावत पर सवार होकर अपने सम्पूर्ण देव परिवार सहित नगर में आते हैं, इन्द्राणी-प्रसूति कक्ष में जाकर तीर्थंकर-माता को मायामयी निद्रा में सुला देती है, तीर्थंकर शिशु को लाकर इन्द्र को सौंप देती है और माता की बगल में एक मायामयी शिशु को लिटा देती है। इन्द्रादिक देवगण बड़ी भक्ति एवं उल्लास के साथ नाचते-गाते-बजाते तीर्थंकर शिशु को एक लाख योजन ऊँचे सुमेरु पर्वत पर स्थित पांडुक शिला पर ले जाते हैं तथा १००८ मणिमय कलशों से क्षीर सागर के जल से भगवान का अभिषेक करते हैं। इन्द्र दो नयनों से भगवान की अनुपम रुप माधुरी का पान कर तृप्त नहीं होता तो सहस्र लोचन बना कर उन्हें निहारता है, हर्षातिरेक से नृत्य करता है, शिशु कों कुण्डल, हार व रत्न भेंट करता है। अभिषेक के उपरान्त शिशु को फिर वापस लाकर माता के पास लिटा दिया जाता है।

उपरोक्त पौराणिक कथ्य में कितना सत्य है, कितनी कवि-कल्पना है, इन्द्रादिक देवों ने भगवान का जन्मोत्सव उसी प्रकार मनाया जैसा कि पुराणों में वर्णित है या मनाया ही नहीं, केवल कल्पना कर ली गई है, इसकी वास्तविकता जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। देवताओं के द्वारा मनाए गये उत्सव में मनुष्यों की कोई भागदारी नहीं थी यहाँ तक कि मायामयी निद्रा से जागने पर उन्हें इसका आभास भी नहीं होता कि उनके शिशु का देवताओं द्वारा अभिषेक किया गया है, देवताओं द्वारा भेंट किए गए आभूषणों के भी कोई चिन्ह उन्हें नहीं मिलते। अस्तु इस पौराणिक कथ्य में विश्वास करना या न करना केवल आस्था का विषय है। हमारी समझ में देवों द्वारा मनाए गए तीर्थंकर जन्मोत्सव के वर्णन का आशय केवल यह दर्शाना है कि उन असीम पुण्यशाली महान् आत्मा के अन्तिम जन्मोत्सव को देवगण भी अत्यन्त हर्षित होकर बड़े वैभव के साथ मनाते हैं। कवियों ने इन्द्र के ३२ मुख वाले मायामयी गजराज ऐरावत का बड़ा विशद वर्णन किया है, उसका परिमाण एक लाख

योजन का कहा है, उसके २५६ गजदंतों में सरोवर बने हैं, उनमें कमल खिले हैं जिन पर ८३,८८,६०८ अप्सराएं नाचती हुई चलती हैं। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि कवि कल्पना के अतिरिक्त **यह सब मायामयी रचना हैं,** देवताओं तथा उनके वाहनों के वैक्रियक शरीर स्थल औदारिक नहीं होते, उनकी रचनायें बहुत कुछ उसी प्रकार की समझ सकते हैं जैसी कि आकाश में कभी-कभी मेघों द्वारा अनेक विचित्र एवं विशाल आकृतियाँ निर्मित हो जाती हैं।

पर्वों पर तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर जिन बिम्ब का अभिषेक पांडुक शिला पर इन्द्रादिक देवों द्वारा तीर्थंकर शिशु का क्षीर सागर के प्रासुक (कृमि रहित) जल से अभिषेक किये जाने की अनुकृति होती है किन्तु अब पता नहीं किस उद्देश्य से प्रेरित होकर कतिपय मुनिराजों, आर्यिका माताओं, भट्टारकों द्वारा पंचामृत अभिषेक की प्रेरणा दी जाने लगी है तथा अपने मार्गदर्शन व सानिध्य में भी सम्पन्न कराये जाने लगे हैं।

कुछ रोचक प्रश्न एवं समाधान

सन्मति सन्देश (जनवरी १९९६) में हमें चर्चा समाधान के अन्तर्गत कुछ रोचक प्रश्न और उनके शास्त्रोक्त समाधान देखने में आये हैं जिन्हें हम अपने पाठकों के लाभार्थ नीचे साभार (अपनी टिप्पणी के साथ) उद्धृत कर रहे हैं :—

प्रश्न (१) क्या आर्यिका को परमपूज्य लिखा जा सकता है तथा क्या उसकी पूजा की जा सकती है एवं अर्घ चढ़ाना उचित है?

समाधान – पूजा-भक्ति देव, शास्त्र, गुरु की की जाती है। गुरू संज्ञा केवल मुनिराज को ही प्राप्त है। आर्यिका उत्तम श्राविका है। श्रावक-श्राविकाओं को न परमपूज्य लिखा जाता है, न उनकी पूजा होती है। इनको वन्दना या इच्छा कार कहा जाता हैं, नमस्कार या नमोस्तु नहीं। अर्हन्त, सिद्ध भगवान को परम पूज्य और दिगम्बर मुनिजन को पूज्य लिखते हैं (–**संयम प्रकाश** उत्तरार्द्ध, पृष्ठ ७४०)।

[**टिप्पणी** – आजकल कई धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं (विशेषकर जो आर्ष मार्ग की रक्षा करने का दावा करती हैं) के द्वारा आर्यिका माताओं को परमपूज्य लिखा जाता है। इसी प्रकार भट्टारकों को भी परमपूज्य लिखा जाता है। यद्यपि भट्टारक गण "जगद्गुरू" "महास्वामी" जैसी सर्वोच्च उपाधियों से अपने को अलंकृत किए हुए हैं तथा अपनी विद्वत्ता और धर्म संरक्षण के कार्यों के कारण पूर्ण सम्मान के अधिकारी भी हैं तथापि आचार की दृष्टि से मोक्ष मार्ग के साधको में उनकी गणना गृह-त्यागी ब्रह्मचारियों में ही किया जाना उचित होगा।

आर्यिकाओं की पूजा करना, उनको अर्घ अर्पित करना, उनकी आरती करना आज आम प्रथा हो गई है। कुछ की तो पूजायें भी रच ली गई हैं। इस प्रथा के पक्षधर विद्वान यदि इसके समर्थन में कोई शास्त्रोक्त प्रमाण हो तो उस पर प्रकाश डाल कर हमारा तथा हमारे पाठकों का ज्ञान वर्द्धन करने की कृपा करें।]

प्रश्न (२) – क्या मुनिराज किसी पशु के साथ फोटो खिचवा सकते हैं ?

समाधान – ऐसी फोटो तो शौकीन आदमी ही खिचवाता है। मुनिराज तो फोटो भी नहीं खिचवाते।

[**टिप्पणी** – आजकल तो अधिकांश मुनिराजों व आर्यिकाओं के विभिन्न मुद्राओं में भव्य रंगीन फोटो चित्र प्रचुर मात्रा में देखने में आते है। चातुर्मास पत्रिका हों या किसी मुनिराज/आर्यिका के सानिध्य में सम्पन्न होने वाले पूजा विधान की पत्रिका हो या स्मारिका हो उसमें तो उनके तथा उनके गुरू महाराज के भव्य रंगीन फोटो चित्र होना अनिवार्य है।]

प्रश्न (३) – भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा यदि देवी पद्मावती की मूर्ति के सिर पर हो तो वहाँ पूजा भक्ति कर सकते हैं क्या ?

(शेष पृष्ठ ६९ पर)

श्री सम्मेदशिखर विवाद

—डा० शशि कान्त

आज विभिन्न तीर्थक्षेत्रों की सम्पत्ति पर आधिपत्य के लिए जैनों के दोनों प्रमुख सम्प्रदायों, दिगम्बरों और श्वेताम्बरों, के बीच जो विवाद चल रहे हैं, वे उनके शास्ता महावीर द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवाद, अपरिग्रह और अहिंसा की भावना के सर्वथा प्रतिकूल हैं। खेद का विषय यह है कि इन विवादों को हवा देने वाले वे सन्त-शिरोमणि हैं जिनके लिए पांच महाव्रतों का पालन किया जाना आदेशित है। श्री केशरिया जी, श्री महावीर जी, श्री शिखर जी और अब श्रवणबेलगोला के गोम्मटेश्वर को लेकर इस प्रकार के विवाद चलाये गये हैं। केशरिया जी में न्यायिक प्रक्रिया से समाधान हुआ, महावीर जी में भी न्यायालय द्वारा अन्ततः फैसला दिया गया और शिखर जी का मामला पिछले १०० वर्षों से विभिन्न न्यायालयों में चल रहा है। गोम्मटेश्वर पर नया विवाद खड़ा करके श्री नरेन्द्र सागर सूरि ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधुवृन्द को असत्य के कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया है। ऐसा ही एक उपहासास्पद प्रयास १९३० के दशक में **हिमवन्त थेरावली** की रचना करके किया

(पृष्ठ ६८ का शेष)

समाधान – एक नारी के शिर पर अर्हन्त भगवान की प्रतिमा होना ही अयोग्य है, फिर पूजा का तो प्रश्न ही नहीं है।

[**टिप्पणी** — भगवान पार्श्वनाथ के ऊपर कमठ का उपसर्ग तथा उसके निवारण के लिए धरणेन्द्र का उनके सिर पर फणावलि का छत्र धारण करना उनके केवलज्ञान पूर्व की घटना है। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद कोई उपसर्ग नहीं रह जाता। तीर्थंकर प्रतिमा भगवान के समवशरण में विराजने के प्रतीक स्वरूप बनाई जाती है तथा पूजी जाती है। अतः विशुद्ध सैद्धान्तिक माप दण्ड से तो भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर फणावली का छत्र बनाया जाना भी उचित नही है।] ★

गया था जिसका आशय था कि एक मात्र हाथीगुम्फा शिलालेख से ज्ञात राजा खारवेल को श्वेताम्बर मत का पोषक बना दिया जाय। उस समय के साधक मनीषी मुनि जिनविजय ने उस रचना को जाली करार दिया था (दृष्टव्य, **अनेकान्त**, व. १, कि. ५–६, पृ० ३५१–५२), परन्तु यह देखकर विस्मय हुआ कि मुनि हस्तिमल ने अपने **जैनधर्म का मौलिक इतिहास** में उसका स्रोत-साधन के रूप में उपयोग किया है।

शिखर जी के विषय में **शोधादर्श** के अंक २३ में श्री अजित प्रसाद जैन का सम्पादकीय, अंक २४ में जस्टिस एम० एल० जैन का तथ्यात्मक लेख और अंक २६ में कुशल निर्देश के सम्मेतशिखर अंक पर हमारी समीक्षात्मक टिप्पणी, प्रकाशित हुए हैं। हमें खेद है कि इस विवाद का सद्भावपूर्ण वातावरण में समाधान भगवान महावीर के अनेकान्त, अपरिग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तों का अनुपालन करते हुए, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के नेतृत्व वर्ग द्वारा नहीं किया जा रहा है, वरन् भ्रमात्मक प्रचार का ही आश्रय लिया जा रहा है ताकि जैन-अजैन जनता अधिक से अधिक उलझन में पड़े और सही वस्तुस्थिति के प्रति दिग्भ्रमित होती रहे। इस भ्रमात्मक प्रचार के उदाहरण स्वरूप The Pioneer दिनांक १०-१२-१९९५ में प्रकाशित सुश्री श्रुति शुक्ला का लेख नीचे प्रकाशित किया जा रहा है। उक्त पत्र ने दिनांक २७-१२-१९९५ को हमारी प्रतिक्रिया भी प्रकाशित की तथा दिनांक २३-१-१९९६ को श्री के० के० बिश्नोई का परामर्श भी, जिसके लिए हम The Pioneer के संपादक मण्डल के आभारी हैं।

Ms. Shruti Shukla : A Shrine In Dispute

"We'll make this worse than Ayodhya," threatened Chandrika Kenia, BJP MP from Gujarat. "We are listed as minorities, let Laloo Yadav touch Parasnath and see..."

This was the Swetambar reaction to the Bihar Government's announcement that it would pass an ordinance to take over the most sacred of Jain pilgrimages about a year ago. The reason

why the Bihar Chief Minister wanted the mountain was ostensibly for 'better management' of the shrine.

There is a court order staying any repair/construction/renovations from being undertaken. Earlier, the Swetambars flooded in money for cementing, in parts, the pathway up the nine-kilometre climb to Parasnath, for a massive well, pipelines and the generators that run between 14 to 16 hours a day.

Several aspects of the case, however, are *sub judice*, but of interest is the fact the Swetambars' case rests on documents dating back to 1593.

A Jain saint, Chandanswami, met the Mughal Emperor, and at his request, summoned from the empty blue sky, a divine pigeon. Akbar issued a *firman* in 1593 AD, giving the Swetambars outright possession of the mountain. According to Ashok Jain of Bennett Coleman and Sons, a court found the document spurious.

In 1760, Nadir Shah reaffirmed this *firman* and there the matter stayed till around the first few years of this century, when a court battle was fought over the possession of Parasnath. The case ended in three judgements of 1928, 1930 and 1933. From the 16th century onwards, Jagat Seth, a devout Jain and founder of the Swetambar Murtipujak Shresthi took over the management of the mountain in his hands.

However, it was the Governor-General of British India who was in Giridih for a *durbar*, who had suggested to the Swetambars, "Why don't you buy the mountain outright ?" The mountain then belonged to the Raja of Palganj, a minor. The purchase was officially made in 1918. The right to the nine-kilometre path up the mountain, however, the Raja kept in his hands for the sake of security of the pilgrims.

Consequently, the mountain moved into the possession of the Kalyanji Anandji Trust, which was legally recognised as the owner of the mountain and which manages it down to our times.

At the time of the Bihar Zamindari Abolition Act in the 1950s again, a minor effort was made to take Parasnath out of the hands of the Trust.

However, a portion of the judgement of May 2, 195, reads, "The Government (of Bihar) could not have taken charge of the forest area of the hill (Parasnath) in view of the provisions u/s 4 (F) of the Bihar Land Reforms Act as it was admittedly a property of the Trust."

This notification was later again superseded by another agreement entered into between the Trust and the Government of Bihar in February, 1968, since the earlier agreement had marked some areas out as not coming under Trust Property.

This was a reiteration of an order passed by the Giridih court just a year earlier, saying, "In view of the religious feelings of the Jain community... the Government does not consider it advisable to enforce the Bihar Reforms Act on the hill."

Though the Digambars have challenged the various court rulings, as no point of time did they ever gain control of Parasnath.

The mountain is amazing. The ascent takes about eight hours of a gradual climb which straightens up to an almost vertical one, right at the top. One fails to understand how they managed to cart their material up Parasnath, the highest peak of the Bihar plateau, standing 4,500 ft above sea level. But the Swetambars have had the path cemented partially through pristine, untouched forests. The Giridih forests were famous for their timber, used for making railway bogies. The trees alone must be worth crores of rupees.

The path after Jal Mandir takes hairpin curves, mounting higher till one comes to the foot of the vast staircase, leading almost into the blue of the skies beyond the pinnacle of the tiny white temple.

It has a tiny ante-chamber, an even smaller main chamber with a small square altar bearing the *charan* of Mahavir Swami. And beyond this, there is nothing but a sheer fall.

Close to the Jal Mandir are several *tonks* or memorials built to commemorate Mahavir's disciples. In Jal Mandir is a bejewelled, crowned statue of Mahavir.

The most remarkable aspect of each statue is their huge staring, black-rimmed eyes. Remarkable again were the toenails,

like small marbles. No one seemed to know why Mahavir's feet were made this way.

But the Privy Council judgement had commented that since the Digambars worshipped the depersonified Mahavir, it was clear from the "prominently-marked toenails" that they were the *feet* of Mahavir, and not their *imprint*.

As for the eyes, Kamal Singh Rampuria, President, All India Jain Swetambar Society, explained that they worshipped Mahavir with his eyes wide open, signifying enlightenment.

There are altogether three sects among the Swetambars—the Terapanthis who follow the 13-fold path to salvation and do not go in for idol worship, the Sthanakwasis with the white patches of cloth, who worship the mountain, and the Murtipujaks who worship Mahavir with his *sringar* adorned like a prince.

The Digambars don't go in for *murti puja* at all and resent the fact that the statues of Mahavir should be adorned. There have been cases when the eyes of the statues up at Jal Mandir were gouged out.

Just before this visit to Parasnath, this correspondent had spoken to Ashok Jain, leader of the Digambars, who had several grouses against the management of Parasnath, including the fact that the paths were not cemented, with the pilgrims ended up with bleeding feet having to bandage them, that there were no lights and of funds being siphoned off.

He also claimed that 90 per cent of the visiting pilgrims were Digambars, hence, there claim to the *chadhawa*.

A. P. Misra, one-time SP of Hazaribagh under which came Giridih, explained, "even in the mid-50s, when canvas shoes weren't popular and rubber and plastic footwear hadn't come in, pilgrims used to bandage their feet before climbing up Parasnath."

Almost 40 years later, some of the pilgrims one met said that for them the entire mountain was sacred, hence leather was not allowed.

Said Swaroop Kumar Shah from Saurashtra, "Rubber chap-

pals are for the bathroom and bare feet give a better grip in the difficult stretches."

His wife was wearing cloth shoes provided by the Swetambar Jain Society Dharmsala, and Arvind Gandhi from Bhopal added, "We believe in total *ahimsa* and, if we inadvertenly step on some living being it would be *ashatana*, we would have to bathe again" Dhirendra Bhai Shah from Ahmedabad added, "We don't spit or dirty the mountain."

Mr. Rampuria explained later that none of the *pujaris* were allowed to stay up since that would call for their easing themselves. If any pilgrim from any *dharmsala* does not return by 6:00, they despatch search parties.

However, the seven Digambar *sadhus*, carrying their queer spout-nosed wooden pots and their little brooms for sweeping insects away before sitting, casually admitted that they needed the water to wash since they started up around midnight and finished *darshan* early morning. Diagambars, if at all they go up the hill, prefer to worship before the *sringar* is done They also said they preferred to worship at the three Digambar temples at the base of the mountain on undisputed land.

As for the complaints like there being no lights, almost all the pilgrims protested vehemently, "Putting up lights would mean millions of jungle insects dying each day. And when we go up, we'll crush them under our feet—this is against what Jainism stands for."

On the other hand, there is the half-constructed Digambar *dharmsala* half way up second hill, against which a stay order has been obtained, showing poles standing, wires strung along, police standing guard. On examining the ground realities one fails to understand the Digambars' right to stake any claim on Parasnath.

One goes back to the Privy Council ruling which had referred the matter to the Courts of Wards since the Raja of Palganj was a minor and which upheld the right of the Raja to seal Parasnath — Lord Philmore — had stated three facts in the 1933

judgement after commenting that the Digambars had done nothing for the development of Parasnath.

The first was that when a British tea planter, Boddem, had started a piggery to the left side of the mountain, there had been no objections raised by the Digambars.

Neither had they said anything when an army officer, because of the proximity of Parasnath to the Grand Trunk Road, had built a sanatorium in just below the dilapidated Forest Department rest house, in 1861. This was closed down in 1865 when Swetambars protested.

The judgement says, "No serious objections seem to have been taken to the military sanatorium while it existed by the Digambars. Though they showed a complete disregard for their (Swetambars') rules (of not spitting, defaecating, etc.) .."

Thirdly, there has been no objection, either to an annual Santhal festival which required them to chase the considerable wildlife down the mountain and to ceremoniously sacrifice the ones they caught.

The Swetambars have been silently spending on improving the path, water supply, electricity and their four *dharmsalas* with around 1000 rooms. All of this is to be found in their meticulously maintained registers.

Dr. Shashi Kant : Rebuttal

This refers to the write-up, 'A shrine in dispute', (*Pulse*, Dec. 10). Every Jain, to whatever denomination he/she may belong, knows about the Parasnath pilgrimmage centre from early childhood because it is hallowed as the eternal *tirtha* being the place of final deliverance (*nirvana bhumi*) of 20 of the 24 Tirthankaras. So, it is simply ridiculous to say that "most Jains today know little of Parasnath".

The writer could have presented an objective assessment if she had seen the relevant documents and visited the site or talked to the knowledgeable among the Digambaras also, instead of confining to Svetambara sites and reporters. The matter is sub-

judice and there is so much propaganda from both sides on the axiom 'everything is fair in love and war', that it is neither proper to go into the merits of the counter-claims, nor it is feasible to sift the truth from the chaff of propaganda. But the misleading part of the writer's narrative need to be restated.

Akbar's *firman* of 1593 A.D. has been held to be spurious after close judicial scrutiny, and it is not a valid document now.

Nadir Shah was never an Emperor of India and had thus no authority to reaffirm a previous *firman* or issue a new one in 1760 A.D.

The staircase leads to the *charan* of Gautama Svami and not of Mahavira Svami.

The *tonks* or memorials are to commemorate the preceding Tirthankaras, and not the disciples of Mahavira who was last of the 24 Tirthankaras.

It is wrong to say that the Digambaras don't go in for *murti-puja*. The Digambaras are as much idolators as the *murti-pujaka* Svetambaras, but they worship the *vitaraga nirgrantha* state of the Tirthankara whereas the Svetambaras worship the pre-Tirthankara state.

Again, it is incorrect to say that the Digambaras do not go up the hill. All the Digambara pilgrims go up the hill and cover the entire 18-mile route in one go barefooted, the ladies, children and the infirm sometimes using the *doli*. It is sacrilege for them even to spit, what to say of defecation, beyond the Gandharva Nala whereafter the sacred pilgrimmage uphill starts. It is, in fact, the case with the Svetambara pilgrims what the author has imputed to the Digambaras.

The Privy Council judgement of 1933 has been misquoted and whatever the writer has written is based on hearsay, without perusing the document.

The dispute is fratricidal between the two major sects of the Jains — the Digambaras and the Svetambaras -- and an outsider

should set his pen on such matters after verifying the facts and not on the basis of hearsay.

The Parasanath Hills as popularly known, is known as Sammedashikhar to the Digambaras and as Sammetshikhar to the Svetambaras. The pilgrim accounts do not date beyond a thousand years ago. The earliest record of construction of 20 memorial temples *(tonks)* is of 1602 A.D. The builder was Nanu, a minister of Raja Mansingh, the Subedar of Emperor Akbar in Eastern India. Nanu was Digambara. The extant *charana* (footprints) in these *tonks* were consecrated by Sah Khushalchandra in 1768 A.D. who was a Svetambara but the *charana* were done in the Digambara style, possibly following the earlier model. Five inscribed idols in the Jal Mandir were consecrated by Shugalchand Jagatseth in 1765 A.D. in Svetambara style. All other monuments are the product of the last 100 years.

Sri K. K. Bishnoi : Advice

As observed by Dr. Shashi Kant in his letter in *The Pioneer*, December 27, the long standing dispute over the Parasnath shrine is a matter of great pain. The fact, however, remains that there have always been disputes between the two sects of Jains but they were amicably resolved.

The great philosophy of Jainism came forth in the sixth century B.C. in the form of an appeal for holier living in the bosom of the then existing Hindu religion and society, with teachings of simple methods of worship and easier means of escape from the ills of the mundane existence. Despite dissensions within, it gave the community and the country as a whole a very rich culture, great art and architecture and a refined and civilised way of life.

——

विचार-बिन्दु

आत्म-घाती मांग

—श्री जौहरीमल पारख*

(१) मुम्बईवासी कुछ जैनों ने "श्री वृहद्मुम्बई जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ महामण्डल" के नाम से एक आवेदन भारत सरकार को भेजकर मांग की है कि जैनों को भी अल्पसंख्यक जाति (Minority Community) घोषित किया जावे और उनका भी एक प्रतिनिधि अल्पसंख्यक राष्ट्रीय आयोग का सदस्य नियुक्त हो। हमारा मंतव्य है कि इन का यह आन्दोलन या अभियान जैनों के अहित में है - सही नेतृत्व नहीं है।

(२) मूलतः 'जैन' कोई जाति नहीं है - यह तो एक धर्म है। सरकार किवा आयोग यदि Minority Community पद का गलत अर्थ करके मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध व पारसियों को उस वर्ग में सम्मिलित करती है तो भी जैनों को इसका शिकार नहीं होना है। यह एक धार्मिक सवाल है जिसमें उच्चतम न्यायालय की बड़ी से बड़ी पीठ के सर्वसम्मत निर्णय से भी निःसन्देह भगवान महावीर स्वामी की रिट (Writ) अधिक प्रभावी है और हमें उसी का अनुसरण करना है।

(३) किसी भी गम्भीर जैन अध्येता से यह बात छिपी नहीं है कि भगवान ने जैनों के अलग से Commune (कम्यून) या गिल्ड (Guild) खड़े नहीं किये हैं। सब तरह से स्वयं में परिपूर्ण एक धार्मिक न्यास की कल्पना भगवान को स्वीकार्य नहीं है। धर्म के नाम पर समाज के टुकड़े करना उनको अभिप्रेत नहीं था। उन्होंने कहीं भी यह नहीं कहा है कि एक जैनी, जैनी से ही विवाह करे; या एक जैनी, जैनी को ही वोट दे अथवा एक जैनी, जैनी से ही

---

* यह लेख पारख जी ने १४ जनवरी को हमें भेजा था, और ५ फरवरी को ही वे संसार छोड़कर चले गये। उनकी अन्तिम कृति होने के कारण, उनके विचार विशेष रूप से मननीय हैं। —सं०

व्यापारिक आदि सम्बन्ध रखे; अथवा एक जैनी लौकिक जीवन में अजैनों का बहिष्कार कर जैनी का ही पक्षपात करे। वस्तुतः जैन आगमों की यह विशेषता है कि वे सांसारिक बातों में सर्वथा मौन हैं, अर्थात् जैनियों के लिये कोई विशेष प्राविधान नहीं बनाये गये हैं। राजतन्त्र हो या प्रजातन्त्र, समाजवाद हो या साम्यवाद, संपत्ति का धारण, अन्तरण या उत्तराधिकार कैसे हो, इन प्रश्नों के उत्तर आपको प्राचीन मान्य मुख्य जैन शास्त्रों में नहीं मिलेंगे (बहुत बाद की रचनाओं के अपवाद छोड़ दीजिए)। कारण स्पष्ट है। वे चाहते थे कि व्यक्तियों का सामूहिक संसार एक सम्मिलित व संयुक्त इकाई रहे, सौहार्दपूर्ण जीवन-मैत्री बनी रहे; सामाजिक क्षेत्र सामाजिक कायदों, विधि-विधानों, के अनुसार शासित हो जो देश-काल परिस्थिति के अनुरूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अन्यथा जगत का व्यवहार चल नहीं सकता - दुनिया का संचालन सुचारु रूप से हो नहीं सकता। धर्म लोगों को जोड़ने की कड़ी है - उनको तोड़ने की नहीं। एकान्त सांप्रदायिक कट्टरता पूर्वक धर्म की ओट व अड़ंगे बाजी से वैर-भावना, वैमनस्य, बिखराव, फूट, कलह, झगड़े-टण्टे, मारकाट आदि होना क्षम्य नहीं हैं और अन्ततोगत्वा स्वयं उस धर्म के अहित में हैं।

(४) परन्तु इसका यह तात्पर्य कत्तई नहीं है कि समाज अधार्मिक होता है और धर्म असामाजिक। यह तो स्पष्ट है कि हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचारादि अधर्मों पर समाज टिक नहीं सकता है। समाज व्यक्तियों से बनता है और व्यक्ति का निर्माण करना धर्म का कार्यक्षेत्र है। व्यक्ति का व्यक्तित्व एक अविभाज्य इकाई है - वह सांसारिक मामलों में अधार्मिक नहीं हो सकता। वह व्यक्तिगत रूप से धार्मिक हो जाय तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नागरिक, कौटुम्बिक आदि सभी क्षेत्रों में धार्मिक हो कर विचरे, एकरस घुलमिल जावे, यही हमारे ऋषि-मुनियों एवं मनीषियों की शिक्षा है ताकि धर्म व समाज में सामञ्जस्य, सह-अस्तित्व व समन्वय बना रहे- संघर्ष या टकराव न हो। उदारता

एवं अनेकान्त दृष्टि से यह सर्वथा सम्भव है और हमारे देश में सैकड़ों-हजारों वर्षों से यही स्थिति कायम रही। दर-असल धार्मिक व्यक्ति किसी भी प्रकार से सामाजिक समस्या नहीं होगा। धार्मिक व्यक्तियों से निर्मित या गठित समाज तो स्वर्ग से भी बढ़कर सुखी होगा, देवता भी उसकी स्तुति एवं स्पृहा करेंगे। यदि व्यक्ति अहिंसक है, सत्यवक्ता है, चोरी व शोषण नहीं करता, ईमानदार है, ज्यादा परिग्रही नहीं है, व्यभिचारी नहीं है, इन्द्रियों के विषयों का लोलुप नहीं है, उपभोग व आवश्यकतायें सीमित रखता है, सबके प्रति समभाव रखता है, अप्रमत्त व पराक्रमी है, त्यागी, तपस्वी व सेवाभावी है, भय व चिन्ता से मुक्त है, ज्ञानवान है, जीवन के उदात्त मूल्यों में जिसका लगाव है, कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) व रागं-द्वेष से दूर है, प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, करुणा, प्रमोद व वात्सल्य रखता है, तो ऐसे व्यक्तियों का जो समाज बनेगा उसमें कोई त्रुटि या कमी नहीं रहेगी। समाज की इस तरह की आधार-शिला होना ही धर्म की सामाजिक महत्ता है और यही उसकी महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका व श्रेय पक्ष है।

(५) सचमुच में हम नतमस्तक हैं धर्म प्रवर्तकों की उस सूझ-बूझ के प्रति जिस का पालन करते हुए जैन इस भारतीय उप-महाद्वीप में जन सामान्य की मुख्य धारा के एक अभिन्न अंग के रूप में हजारों वर्षों से स-सम्मान जीते आ रहे हैं, ज्ञात इतिहास की दीर्घ अवधि में उन्होंने कभी भी अपने लिये विशिष्ट दर्जे की चाहना नहीं की। अपनी विशाल व उच्च विचार-धारा से वे समझते थे कि करोड़ों के साथ एकजुट एवं एकमेक होकर रहना ही उनके लिए हितकर है, वरना समाज के अधिकांश भाग को मिलने वाले लाभों से वे दूर हो जावेंगे। और यदि उनमें पाखण्ड-विहीन वास्तविक सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्र का बल है और मन-वचन-काया की योग्यता है तो बहुतों से कम होते हुवे भी वे अग्रिम पंक्ति में स्थान प्राप्त करेंगे - प्रधानता का उपभोग करेंगे - और वास्तव में वे आज उस स्थान पर हैं। एकदम सरल उपमा है कि अविभाजित परिवार के सभी

सदस्य करोड़पति बोले जाते हैं और फर्म के सभी भागीदार बराबर गिने जाते हैं, भले ही एक का हिस्सा १५ आना हो और दूसरे का केवल एक आना मात्र। लेकिन कुटुम्ब का विभाजन या भागीदारी का अन्त हो जाने पर वह स्थिति नहीं रहती और प्रत्यक्ष है कि इस अलगाव से अधिक नुकसान कम हिस्से वाले को ही होता है।

(६) दूसरी ओर से देखें तो विभाजन कोई सुखद घटना नहीं होती है - अपरिहार्य अवस्था की अन्तिम मजबूरी है तथा विभाजन कोई समस्या का हल नहीं है, उल्टा कई बार तो विरोध बढ़ता है। देश का बटवारा हुआ पर न तो अशान्ति मिटी और न हिन्दु-मुस्लिम दंगे कम हुवे, वल्कि पाकिस्तान व हिन्दुस्तान एक दूसरे के दुश्मन जरूर हो गये हैं। और इधर अब हिन्दु व सिख आपस में लड़ने लग गये हैं मानों लड़ना आजकल मानव स्वभाव हो गया है। अतएव हमारा भला इसी में है कि बिना अधिकार जताये सबके साथ एक होकर रहें।

(७) अगर शुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से समीक्षा की जाय तो धर्म के नाम पर खास सामाजिक अधिकारों की यह मांग स्वयं में घोर विसंगति है क्योंकि धर्म एक मात्र कर्त्तव्यों का पुलिंदा है जहाँ अधिकार नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। एक सच्चा जैन ऐसे अधिकारों का आग्रह नहीं करेगा।

(८) लगता है आन्दोलनकारी यह समझ बैठे हैं कि जैन धर्म पर बनियों का ही एकाधिकार है; जबकि बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक किसी भी कौम, जाति या जमात में जन्मने वाला आदमी जैन हो सकता है - बिना किसी भेदभाव यावत्- किंचित् भी अयोग्यता के पूर्णरूपेण जैन धर्म की अनुपालना कर सकता है। **उत्तराध्ययन सूत्र** में आंकड़े दिये गये हैं कि सही तत्त्वों में शुद्ध श्रद्धा रखने वाले पर-लिङ्गियों में मोक्ष, निर्वाण या सिद्धि प्राप्त करने वालों की संख्या विशेषाधिक है। यहाँ उल्लेखनीय है कि कुछ ही शतकों पूर्व जैन धर्म में ब्राह्मणों की सशक्त लॉबी (Lobby) थी और वह जैनियों के लिये एक दुर्दिन सिद्ध हुआ जब से उस सन्तुलक प्रभाव का ह्रास प्रारम्भ हुआ।

(९) इस आन्दोलन को छेड़ने रूपी भयंकर भूल के प्रति चेतावनी देना एक जैन होने के नाते मेरा पुनीत कर्तव्य है। मेरी राय में स्वयं अपनी कुल्हाड़ी से अपने ही पाँव काटने जैसी यह एक आत्मघाती मांग है। कदाचित् यह आन्दोलन सफल भी हो जाता है और जैनियों की यह मांग मंजूर हो जाती है और उन्हें आम जनता से काटकर एक अल्पसंख्यक दर्जा मिल भी जाता है तो भी उसके परिणाम घातक सिद्ध होंगे। आप निश्चित समझिये कि तब से जैनों के इस देश में अस्तित्व के दिन गिनती के ही होंगे। जिस प्रकार भूत काल में बौद्धों का सफाया हुआ, ठीक उसी प्रकार जैनों का भी इस मुल्क से सफाया हो जावेगा। मौजूदा हालात से आंख मूंद कर सिर्फ निश्चय न्याय की दुहाई देने से कोई बचाव होने वाला नहीं है। पाकिस्तान के अनुभव से सीखो जहाँ से हमारे देखते-देखते जैन धर्म लुप्त हो गया है यद्यपि पुराने ज़माने में वह समस्त इलाका जैन धर्म का मजबूत गढ़ था पर कुछ वर्ष बाद वहाँ जैनों का निशान भी नहीं रहेगा।

(१०) सही परिप्रेक्ष्य में "हिन्दु" शब्द धार्मिक संज्ञा नहीं है, वरन् मूल भारत वासियों का द्योतक है।* मुसलमानों के आगमन

---

* मुसलमान आक्रमणकारियों ने द्वेषवश इस देश के रहने वालों को अपमानित करने के लिए उन्हें 'हिन्दू' कहना शुरू किया जिसका मतलब मुहावरा फारसी में 'चोर, डाकू, राहज़न और काला' है। (दृष्टव्य The Persian Gem Dictionary और लुगद किशोरी)। 'हिन्दूज़न' का अर्थ भी 'हिन्दू स्त्री' न होकर 'जादूगरनी' है। मुसलमान, ईसाई, पारसी और पश्चिम से आने वाले यहूदी आदि अन्य धर्मावलम्बियों को छोड़कर भारत के सभी मूलवासियों और इस देश की धार्मिक-सांस्कृतिक परम्परा से निःसृत सभी धर्मों के मानने वालों के लिए—जिनमें जैन, बौद्ध और सिख सम्मिलित हैं, ब्रिटिश शासन काल में 'हिन्दू' शब्द का सामान्य रूप से प्रचलन हुआ। यह संज्ञा विभाजन के पूर्व सम्पूर्ण भारतीय उप-महाद्वीप के ८५% प्रतिशत जनसंख्या का द्योतक थी और आज केवल भारत (Union of India) की ६० करोड़ जनसंख्या के ६० प्रतिशत का बोध कराती है। यह उल्लेखनीय है कि जब मुसलमान शासकों ने भारत के निवासियों के लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग शुरू किया उन्हें परसिपोलिस से प्राप्त ई० पू० ४थी शती के शिलालेखों का पता नहीं था, 'सिन्ध' शब्द अरबी और फारसी की किताबों में उल्लिखित है और 'स' की ध्वनि के लिए फारसी लिपि में 'से', 'सीन', और 'स्वाद' तीन अक्षर हैं। —शशि कान्त

से पूर्व इस देश में आर्य व अनार्य ऐसे दो जातीय विभाग थे तथा बाहर से आये लोगों यवनों व म्लेच्छों को जिनकी संस्कृति और सभ्यता अभारतीय व अधार्मिक थी, अनार्य कहा जाता था। यह निर्विवाद है कि भारतवर्ष ही जैनों की मातृभूमि है - जैनधर्म कहीं बाहर से आया हुआ नहीं है, आर्यों के अनेकों भेद-प्रभेदों में ही जैनों का समावेश होता है, और उन्हें भी गर्व से कहना चाहिए कि हम हिन्दू हैं। लगभग हजार वर्ष की मुस्लिम आक्रमण इतिहासावधि में जैनों को उस आतंक में कत्तई बख्शा नहीं गया है बल्कि सबके साथ एकमेक होकर उन्होंने भी इस संकट को झेला है - इसका सामना किया है। इसलिए डेढ़ चावल की पृथक से खिचड़ी पकाने की अपेक्षा हमारा कल्याण इसी में है कि आपसी साम्प्रदायिक फूट मिटाने के प्रयासों में अपनी शक्ति का उपयोग करें।

(११) आन्दोलकों ने अपने अभियान के समर्थन में एक और तर्क दिया है कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो राष्ट्रीय अल्पसंख्यक विकास एवं वित्त निगम द्वारा दी जाने वाली मदद व तदर्थ मिलने वाली आयकर छूट से जैन व उनकी संस्थायें वंचित रहेंगी। परन्तु जैनों के लिये अल्पसंख्यक बनकर धन प्राप्ति हेतु अयोग्यता मिटाना बिल्कुल शोभास्पद नहीं है, हर तरह से एक लज्जास्पद बात ही होगी। यदि इस देश में जैन भी सहायता दिये जाने लायक गरीब हैं तो फिर धनवान कहे जाने वाला कौन बचेगा- नई परिभाषायें गढनी पड़ेंगी। लेने की बजाय आज तक जैनों ने दिया ही दिया है। देकर खुश होने वाले झगडूशाह व भामाशाह के वर्तमान वंशज क्या इतने निर्धन व निर्बल हो चुके हैं कि वे अपने स्तर पर साधर्मिक भाइयों के स्वाभिमान की रक्षा नहीं कर सकते और उन्हें सरकार का मुंहताज बनना पड़े !

(१२) प्रसंगवश यह भी विचारणीय है कि सरकारी डर या प्रलोभनों में पड़ कर मुस्लिम एवं खिस्ती राजाओं के समय में जिन लोगों ने क्रमशः मुसलमान और ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया या उनकी आधीनता स्वीकार कर ली, उन कायरों की आज पर्यन्त

निन्दा व भर्त्सना की जाती है; जबकि इसके विपरीत महाराणा प्रताप, भामाशाह आदि जो धर्म पर दृढ़ रहे उन्हें आज भी सारी दुनिया आदरपूर्वक याद करती है। "आप शैव हैं" और "मैं जैन हूं", यह भेद-भाव की मूर्खता उन्होंने नहीं की। मूल बात यह है कि धार्मिकता, "संविधान" नाम की सरकारी किताब प्रदत्त नहीं बल्कि हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। राज्य सत्ता धर्मक्षेत्र में हस्तक्षेप करने में कत्तई सक्षम नहीं है और कदाचित् ऐसा करती है तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा होगी और उस का डटकर विरोध किया जावेगा। इस प्रकार, धर्म की रक्षा बहादुरी पूर्वक हमें स्वयं को करनी है। शासकीय सुविधाओं या मान्यताओं या आश्रयों से कुछ भी होने-जाने वाला नहीं है। कहा भी है– 'जे दृढ़ राखे धर्म को, ताहि राखे करतार'।

(१३) इस अदूरदर्शी मांग के खिलाफ अन्तिम किन्तु सबसे अधिक बुनियादी मुद्दा यह है कि ये अभियान वाले लोग विश्व भर में हो रहे जैन दर्शन के प्रचार को नजर-अन्दाज कर रहे हैं। उदाहरण स्वरूप, **अहिंसा** अब न केवल जैन धर्म की बल्कि धर्म की अधिकार सीमा का ही सिद्धान्त नहीं रहा है, परन्तु उसे पारकर सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की आधार-शिला बन चुका है। उसी प्रकार पूंजीवाद, भौतिकवाद, राष्ट्रीयकरण व साम्यवाद इन सबकी घोर असफलता के बाद आधुनिक चिन्तकों के दिमाग में **अपरिग्रह** का सिद्धान्त स्थायी विकल्प के रूप में घर कर गया हैं, और शीघ्र ही दुनिया भर में लागू हो जावेगा। ठीक उसी प्रकार **अनेकान्त** एवं **अनुशासन** के प्रसार हेतु भूमिका तैयार हो चुकी है और इनकी महत्ता व उपयोगिता सर्वत्र बखानी जा रही हैं। ये सब सिद्धान्त जैन धर्म के मर्म-स्वरूप हैं। इसीलिए मेरी जैनों को यह सलाह है कि हमें नाम अथवा लेबल में रुचि नहीं रखना चाहिये जबकि हकीकत में हमारे धार्मिक सिद्धान्त समस्त सँसार द्वारा मान्यता प्राप्त होकर जीवन में उतारे जा रहे हैं। जैन धर्म के रक्षण व विकास के वास्ते हमें इस धर्म के मूल मूल्यों का आसरा लेना है,

(शेष पृष्ठ ८५ पर)

पर्यावरण और जीव दया

मूक पशु की आवाज

—श्री कैलाश भूषण जिन्दल

उपर्युक्त स्तम्भ के अन्तर्गत हमने पिछले २७वें अंक में उप-न्यायाधीश श्री सी० के० चतुर्वेदी के 'आर० के० खत्री बनाम भारत सरकार' वाद में दिये गये दिनांक १६-१२-१९९२ के ऐतिहासिक निर्णय के कुछ अंश दिये थे। इसी क्रम में हम अब उक्त निर्णय के प्रस्तर ८०–८५ नीचे उद्धृत कर रहे हैं :—

"हमारे सामने दो प्रश्न उठते हैं– क्या पशु वध मनुष्य के भोजन के लिए हो रहा है, और क्या क्षुधा-तृप्ति के लिए मांसाहार आवश्यक है ? दोनों प्रश्नों का उत्तर सहज और सरल है। निर्यात करने वालों की महत्वाकांक्षा की आपूर्ति के लिए जब पशु मारे जाते हैं, तो स्पष्ट है कि यह हत्या जीविका और आर्थिक लाभ के लिए

(पृष्ठ ८४ का शेष)

बनिस्पत शासकीय छत्रछाया के। आखिर तो 'सत्यमेव जयते नानृतम्'।

(१४) अन्त में, उपरोक्त महामण्डल के पदाधिकारियों से, तथा इस प्रकार के दिगम्बर एवं अन्य जैन पंथों के नेताओं से और दिगम्बर, श्वेताम्बर व स्थानकवासी/तेरापंथी मुनि-आर्यिकागण से भी, हमारी विनम्र प्रार्थना है कि अपने इस अभियान को तेज करने की अपेक्षा शीघ्रता से समेट लें, या फिर कम से कम जैन संघ के सभी अग्रणी नेताओं की आम सहमति व मार्गदर्शन प्राप्त कर बाद में आगे कदम बढावें। चूंकि यह केवल श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ (या किसी आम्नाय/पंथ विशेष) से सम्बन्धित मामला नहीं है किन्तु समस्त जैनों का सार्वजनिक मसला है, अतएव बहुत अच्छा होगा कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नायों के एकोएक फिरके, गण, गच्छ व सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित कर बहुमत ही नहीं वरन् आम सहमति प्राप्त करने के प्रयास किये जावें। ★

की जा रही है। अब हम पाषाण काल की दशा में नहीं हैं और न हमारी समाज आदिम है। अतएव मांसाहार हमारे लिए आवश्यक नहीं है। सभ्यता और कृषि उद्योग आगे बढ़ चुका है और अब भोजन की कहीं कमी नहीं है। इस अन्तरिक्ष युग में, जब बड़े-बड़े नगरों, कस्बों और गांवों में किसी चीज़ की कमी नहीं है, होटलों और घरों में मनुष्य मांसाहार अपने जीने के लिए नहीं, वरन् रस-स्वादन के लिए करता है। शाकाहारियों को दरिद्र, विक्षिप्त, सनकी और झक्की कहना एक प्रचलन हो गया है। दूध और शाकाहारी भोजन के पौष्टिक तत्वों की मांसाहारी भोजन के तत्वों से तुलना करने पर यह सिद्ध हो गया है कि लोग पशुओं का भक्षण केवल अपने स्वाद के लिए करते हैं। अगर सिर्फ पौष्टिक तत्वों की बात है, तो कम पैसे में ज्यादा तत्व शाकाहार में मिल सकते हैं। शाकाहार के प्रति लोग दिन प्रतिदिन अधिक आकृष्ट हो रहे हैं। जबकि आयु-विज्ञान यह सिद्ध कर चुका है कि सत्तर ऐसे भयानक रोग हैं जिनका स्रोत मारे गये जानवरों के अवयव हैं, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि गोश्त के बराबर संसार में कोई गन्दी वस्तु नहीं है।

संसार के जितने धर्मोपदेष्टा हुए हैं, सबने शाकाहार को अपनाया है। विश्व की दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई जनसंख्या को अपनी भूख मिटाने के लिए अन्त में वनस्पति का ही सहारा लेना पड़ेगा। साग-सब्जी के उत्पादन की अपेक्षा मांस उत्पादन में कहीं अधिक खर्चा होता है। उदाहरणार्थ, गाय को २१ पाउन्ड वनस्पति प्रोटीन खिलाई जाए, तब कहीं जाकर उसके शरीर से एक पाउण्ड पशु-प्रोटीन उपलब्ध हो सकती है। यू० एस० ए० में खेती के योग्य जमीन का आधा भाग केवल पशुओं के लिए चारा-उत्पादन में काम आता है। इस प्रकार प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने वाली प्रोटीन हम जानवरों को खिला देते हैं, और फिर उन पशुओं को खाकर, हम न्यून मात्रा में उपलब्ध प्रोटीन से सन्तुष्ट हो जाते हैं। कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि यदि यू० एस० ए० और अन्य देश गोश्त खाना छोड़ दें तो सारे विश्व को भर पेट भोजन मिल सकता

है। इन सब बातों का परिस्थितिकी और पर्यावरण की दृष्टि से बहुत महत्व है, जिसकी ओर कोई भी शासन उदासीन नहीं हो सकता।

अनियन्त्रित पशु-हत्या को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जानवर केवल भोजन के लिए नहीं मारे जाते और गोश्त भूख मिटाने के लिए नहीं खाया जाता है। केवल स्वाद के लिए जीव हत्या करना और इसी उद्देश्य से पशुओं का निर्यात करना, पर्यावरण के लिए हानिकारक है। पूंजीपति देश इस बात को स्वीकार करते हैं कि मांस-उद्योग हमारी संस्कृति के विरुद्ध है। हमारी बरसों पुरानी संस्कृति और सभ्यता हमें हर प्रकार के जीव का आदर करना और प्रकृति के साथ मिल-जुल कर रहना सिखाती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारी यह सांस्कृतिक परम्परा हमारे ऋषियों और मनीषियों के चिन्तन का सार है। हमारे इस जीव-दया के सिद्धान्त ने विदेशियों को हमारी ओर आकर्षित किया और आज भी इसी के बल पर पर्यटक और जिज्ञासु इस पुण्यभूमि की ओर खिचे चले आते हैं।

जिस परिस्थितिकी–सन्तुलन के लिए पर्यावरण की रक्षा करने में आज सारा विश्व लगा हुआ है, उसे हमारे ऋषि-मनीषी बहुत पहले से जानते थे। ये प्रकृति के नियम अनादि-अनन्त हैं और इन्हें किसी प्रकार भी नकारा नहीं जा सकता। जब-जब मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है, तो यह प्रकृति के नियम ही मनुष्य का मार्ग-दर्शन करते हैं।

इस शाश्वत सत्य को विभिन्न लोगों ने विभिन्न प्रकार से समय-समय पर दोहराया है। सहजीवन और सद्भाव प्रकृति का नियम है। मन, वचन या कार्य से प्रकृति का विरोध करना, धर्म व्यवस्था के विपरीत है। इसी बात को भगवान महावीर ने 'अहिंसा परमोधर्मः' कहा है। इस धर्म को जब हम प्रकृति पर लागू करते हैं, तो इसका सीधा-सादा अर्थ परिस्थितिकी या पर्यावरण की रक्षा

करना है। हमारी शास्त्र-सम्मत स्तुति और पूजा का भी यही आशय है। जब हम कहते हैं— 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया' तो हम सबके हित की बात करते हैं। हमारे वेदों में पशु हत्या का स्पष्ट शब्दों में निषेध है।

संस्कृति क्या है ? एक जन समूह के रहन-सहन का ढंग जो पीढ़ी दर पीढ़ी चला आ रहा है, उसको सी० राजगोपालाचारी ने 'संस्कृति' माना है। अपनी **भारत राष्ट्र की संस्कृति** नामक पुस्तक में आबिद हुसैन कहते हैं – 'भारतवासियों की चेतना के पीछे एक सामान्य स्वभाव और दृष्टिकोण है। इस स्वभाव और दृष्टिकोण को बनाने में विभिन्न आन्दोलनों और संस्कृतियों का योगदान है।' आबिद हुसैन आगे चलकर कहते हैं– 'अनादि काल से भारतवासियों का मुख्य उद्योग कृषि रहा है। इस कृषि उद्योग ने हमें शान्ति और सृजन की ओर प्रेरित किया। हम युद्ध और विध्वंसकारी गति-विधियों से सदैव दूर रहे।' जिस बड़े पैमाने पर आजकल पशुवध हो रहा है, वह अद्वितीय बर्बरता का द्योतक है और हमारी संस्कृति के विपरीत है – मुटठी भर लोगों का मतिभ्रम है। सी० राजगोपालाचारी के अनुसार–क्षुद्रता, क्रूरता व कुटिलता का त्याग ही संस्कृति है। क्रूरता के विषय में सी० राजगोपालाचारी कहते हैं– 'निर्दयी मत बनो। तुमसे जो कमजोर है, उसके प्रति सहानुभूति रखो। हर जीव को अपने प्राण प्यारे हैं। हर जीव संवेदनशील है। इसलिए सबके प्रति आपको कोमल होना चाहिए। अगर आप क्षुद्र, क्रूर और कुटिल हैं तो आपके इस स्वभाव से लोग शीघ्र परिचित हो जायेंगे और आपकी गणना सुसंस्कृत लोगों में नहीं होगी। जिस व्यवहार की आप औरों से अपेक्षा करते हैं, वही व्यवहार आपको औरों के प्रति भीं करना चाहिए। यही संस्कृति का सारांश है। हम हर प्रकार के अनुशासन का परिहास कर सकते हैं। हम खटमल, चींटी और मच्छर के प्रति सहानुभूति का मजाक उड़ा सकते हैं। यह सिद्ध करना बड़ा आसान है कि जीव-हत्या का परित्याग

(शेष पृष्ठ ९० पर)

गणतन्त्र दिवस बना प्रश्न चिन्ह

—इं० राजीव कान्त जैन

जिन्होंने देखे स्वप्न : **कर रहे प्रश्न ?**

आजाद वतन होगा,
साकार सपन होगा ।
होगी धरती अपनी,
अपना गगन होगा ।।१।।

अपनी सांसों पर,
होगा अपना अधिकार ।
सरहद पर होगी,
फौलादी सीनों की दीवार ।।२।।

अपनी चादर होगी,
अपने होंगे पाँव ।
आत्म - निर्भर होंगे,
सब शहर - गाँव ।।३।।

चरखा घूमने लगा,
'वन्दे मातरम्' गूंजने लगा ।
जन-जन जगा जोश,
उड़े फ़िरंगी के होश ।।४।।

स्वतन्त्रता की सेज पर,
फूल नहीं, सर सजाये ।
अब संभालो तुम, वतन,
ये चमन सदा लहलहाये ।।५।।

गुल हैं बेआब,
खुशबू हुयी ख्वाब ।
सुस्त क्यों पवन ?
मुरझाया क्यों चमन ? ।।६।।

ऋण से कर क्रय,
लाओगे सुनहरा प्रभात ?
चांदनी भी पर लूट ली,
रही केवल काली रात ।।७।।

दूर - दूर से आया,
बिकने को सामान ।
भरी - पूरी हाट में
अपनी नहीं दुकान ? ।।८।।

कंगूरे बनने की चाहत,
खोखली की ईमारत ।
नींव में नहीं ईंट,
जो बचीं, हैं आहत ।।९।।

घर में लगी अगन,
पर करे कौन जतन ?
बाड़ खाये खेत,
पूतों हा ! कैसा पतन ! ।।१०।।

पर उन्हें अभी आस–

बहुत दुःखी मन, टूट रहे सपन,
क्या सोचा था, हा ! कैसा किया चमन ! ।।११।।

देखी थी हमने लुटते मां बहनों की अस्मत,
झेली थी हमने गुलाम ज़िन्दगी की ज़िल्लत। ।।१२।।

तब छले गये — बल या व्यापार ?
जानते – बूझते पर, अब न खोलो द्वार ।।१३।।

कर्ज के कोट में, न ढांपो फटे वसन ।
बोझ तले होये गुलामी, आबरू रहे रहन ।।१४।।

अपनी ऊर्जा जानो, अपने को देश मानो ।
गगन नहीं सीमा, करने की जो ठानो ।।१५।।

चेतो, ऐ बच्चों ! बचा जो, सहेजो ।
हमें अब भी आस, हमें तुम पर विश्वास ।।१६।।

——

(पृष्ठ ८८ का शेष)

असम्भव है, एक दूसरे का भक्षण प्रकृति का नियम है। परन्तु संस्कृति की मांग है कि हम अपने को दूसरे की स्थिति में रखें और अपना चिन्तन और अनुभूति उस स्थिति के अनुसार करें। शब्दार्थ-शास्त्र के अनुसार एक समाज का प्रबुद्ध वर्ग उसके सामने जो शिष्टाचार का आदर्श रखता है, वही उसकी संस्कृति है, न कि उसके पालन में व्यक्तिगत विसंगति, विफलता और त्रुटियाँ।' '' ★

इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि डा० ज्योति प्रसाद जैन की जन्म-जयन्ति

६ फरवरी, १९९६, को इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि डा० ज्योति प्रसाद जैन की ८४वीं जन्म-जयन्ति पर ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में उनके चित्र पर माल्यार्पण, और णमोकार मन्त्र, महावीराष्टक और डाक्टर साहब द्वारा रचित 'वीतराग स्वरूपं' तथा 'जय महावीर नमो' के सामूहिक पाठ के साथ उनका पुण्य स्मरण किया गया और उनके प्रति विनयाञ्जलि अर्पित की गई। श्री रमा कान्त जैन ने निम्नलिखित काव्याञ्जलि प्रस्तुत की —

ज्ञान की ज्योति जो जलाते रहे
स्नेह-सुधा सब पै सरसाते रहे
महावीर की वाणी फैलाते रहे
पारस-सुवन वह जग में जगमगाते रहे ।।१।।
सरलता जीवन में गले लगाते रहे
सन्तोष-वारि से प्यास बुझाते रहे
गुणग्राहकता जो सदा अपनाते रहे
है कौन समर्थ, जो गुण उनके कहे ।।२।।

श्री अजित प्रसाद जैन ने डाक्टर साहब से सम्बन्धित अपने संस्मरण सुनाये। इस अवसर पर डा० शशि कान्त की अध्यक्षता में 'ज्योति प्रसाद जैन ट्रस्ट' की वार्षिक बैठक भी हुई।

श्री रमा कान्त जैन की षष्ठिपूर्ति

शोधादर्श के सह-सम्पादक श्री रमा कान्त जैन की षष्ठिपूर्ति पर १० फरवरी, १९९६, को ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में 'सृजनशील साहित्यकार मंच' द्वारा लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार डा० परमानन्द जड़िया की अध्यक्षता में काव्य-गोष्ठी हुई। गोष्ठी का संचालन श्री कमल किशोर तिवारी 'भावुक' ने किया। अध्यक्ष

द्वारा वाग्देवी के चित्र पर माल्यार्पण और श्री गौरीश श्रीवास्तव द्वारा वाणी वंदना से प्रारम्भ हुई गोष्ठी में कविगण सर्वश्री महावीर प्रसाद 'रज', प्रकाश चन्द्र 'दास', अनन्त प्रकाश तिवारी, रवि अवस्थी, डा० महावीर प्रसाद जैन, डा० सुरेश प्रकाश शुक्ल, कमल किशोर 'भावुक', गौरीश श्रीवास्तव, शिव भजन 'कमलेश', राज किशोर त्रिवेदी 'किशोर' और डा० जड़िया ने बहुरंगी काव्य पाठ किया। श्री अजित प्रसाद जैन ने इस अवसर पर अपना आशीर्वचन कहा। अन्य रचनाओं के साथ-साथ डा० शशि कान्त ने षष्ठिपूर्ति पर स्नेहाशीष स्वरूप अपनी विशिष्ट रचना पढ़ी —

साठ वसन्त देख लिये तुमने
अनुभव की शाला में
जीवन के सतरंगी रूप
देख लिये तुमने
साठ वसन्त देख लिये तुमने ।।
माधुर्य समेटा
सुरभि सरसाई
जीवन को समरस जीना
सीख लिया तुमने
साठ वसन्त देख लिये तुमने ।।
जीवन में सब चाहा मिल जाये
ऐसा सौभाग्य नहीं सबका
सन्तोष सुधा को पीकर
जो कुछ मिला भाग्य से
सहज स्वीकार किया तुमने
साठ वसन्त देख लिये तुमने ।।

श्री रमा कान्त जैन ने भी सभी समागत की शुभकामनाओं के लिये आभार व्यक्त करते हुए अपनी रचनाओं का पाठ किया।

—अंशु जैन

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश
प्रगति प्रतिवेदन वर्ष १९९५–९६

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, की स्थापना सन् १९७६ में उत्तर प्रदेश शासन की श्री महावीर निर्वाण समिति के उत्तराधिकारी स्वरूप एक रजिस्टर्ड सोसायटी के रूप में की गई थी। समिति का १९८७–९१ का प्रगति प्रतिवेदन **शोधादर्श–१५** (नवम्बर १९९१) के पृष्ठ ८१–८६ पर, १९९१–९२ का प्रगति प्रतिवेदन **शोधादर्श**–१८ (नवम्बर १९९२) के पृष्ठ ८३–८४ पर तथा १९९२–९५ का प्रगति प्रतिवेदन **शोधादर्श**-२५ (मार्च १९९५) के पृष्ठ ८१–८४ व ८६–८७ पर प्रकाशित है। प्रस्तुत प्रतिवेदन अप्रैल १९९५ से मार्च १९९६ की अवधि की प्रगति के सम्बन्ध में है।

सदस्यों का वियोग :

इस अवधि में हमारी समिति के सम्माननीय सदस्य श्री प्रेम चन्द्र जी जैन (अहिंसा मन्दिर, नई दिल्ली) और श्री प्रकाश चन्द्र जी जैन लुहाड़्या (सासनी, अलीगढ़) का निधन हो गया। इनका उन्मुक्त सहयोग हमें निरन्तर प्राप्त होता रहा था। इनके मार्गदर्शन से वंचित होने का हमें दुःख है। हम इन दिवंगत आत्माओं की सद्गति और चिरशान्ति की कामना करते हैं।

नये सदस्य :

इस अवधि में श्री महेश चन्द्र जैन (सेरीटास, यू० एस० ए०) और श्री नेमि चन्द्र जैन (शंकर नगर, लखनऊ) को समिति की आजीवन सदस्यता प्रदान की गई। सर्वश्री सेढमल जैन, अनन्त जैन कागजी, श्रवण कुमार जैन, राकेश चन्द्र जैन, सुधीर कुमार जैन, सुरेश चन्द्र जैन, निर्वाण चन्द्र जैन और कैलाश चन्द्र जैन को दिनांक १-१-१९९६ से तीन वर्ष के लिये साधारण सदस्यता प्रदान की गई।

सदस्यता के सम्बन्ध में दिनांक ८-२-१९९६ की प्रबन्ध समिति की बैठक में यह निश्चय किया गया कि साधारण सदस्य के लिए दिनांक १-४-१९९६ से नियम ६ (४) के मूल प्राविधान का अनुपालन किया जाय। सदस्यता हेतु निर्धारित प्रपत्र पर अध्यक्ष/प्रधान मंत्री को आवेदन भेजा जाना चाहिए और प्रबन्ध समिति का अनुमोदन प्राप्त होने के उपरान्त ही सदस्यता प्रदान की जा सकेगी।

विशेष आयोजन :

श्रुत पंचमी पर्व :—ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, शनिवार दिनांक ३ जून, १९९५, को सभी प्रमुख धर्मों के धर्म ग्रन्थों के लिपिकरण/पुस्तकीकरण के विषय पर बाल रवीन्द्रालय, चारबाग, लखनऊ में एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। अध्यक्षता वयोवृद्ध विद्वान और स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी प्रो० खुशाल चन्द्र गोरावाला ने की। षट्खण्डागम ग्रन्थ और पुस्तकधारिणी सरस्वती के चित्र पर माल्यार्पण तथा जिनवाणी एवं सरस्वती वन्दना और मन्त्री द्वारा स्वागत सम्बोधन एवं विषय की प्रस्तावना के उपरान्त — (१) लखनऊ विश्वविद्यालय के विधि विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर डा० अवतार सिंह ने सिख धर्म के **गुरु ग्रन्थ साहब** ; (२) न्यायमूर्ति श्री मुर्तज़ा हुसैन ने इस्लाम धर्म की **कुर्आन शरीफ** ; (३) श्री ई० आई० एल० जैक्सन ने ईसाई धर्म की **बाइबिल** ; (४) पारसी एसोसियेशन की प्रेसीडेन्ट कु० जरीन विक्काजी ने पारसी-धर्म के **जेन्द-अवेस्ता** ; (५) श्री लक्ष्मी नारायण कुरील ने बौद्ध धर्म के **त्रिपिटक** ; (६) गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग के भू० पू० प्रोफेसर डा० शैल नाथ चतुर्वेदी ने हिन्दू धर्म के विशिष्ट ग्रन्थों ; और (७) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० सुदर्शन लाल जैन ने जैन श्रुतागम के लिपिकरण/पुस्तकीकरण पर विस्तार से प्रकाश डाला तथा डा० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी ने सरस्वती की पुस्तकधारिणी देवी के रूप में उपलब्ध सर्वप्राचीन मूर्ति का परिचय दिया। इस आयोजन की सर्वत्र सराहना की गई।

आर्थिक प्रगति :

समिति का नियत जमा राशि के रूप में ध्रौव्य फण्ड दिनांक १-४-१९९५ को रु० ७,९६,९१६.३० पै० था जो दिनांक ३१-३-१९९६ को बढ़कर रु० ८,५७,६०३.३० पै० हो गया है। प्राप्ति-व्यय लेखे का आडिट मेसर्स ए० जिन्दल एण्ड कम्पनी, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट्स, द्वारा किया गया है।

शोध पुस्तकालय :

पुस्तकालय में संग्रहीत पुस्तकों का मूल्य लगभग एक लाख रुपये है। पुस्तकालय में सभी भारतीय धर्मों, दर्शन एवं संस्कृति के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संग्रह करने का प्रयास किया गया है। जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों के मूल ग्रन्थों, शोध-प्रबन्धों तथा शोधपरक एवं सामान्य साहित्य का संग्रह करने का प्रयास किया जाता है। लखनऊ विश्वविद्यालय के जैन विद्या पर काम कर रहे शोध अनुसन्धान-कर्ताओं द्वारा तथा अन्य जिज्ञासु विद्वानों द्वारा पुस्तकालय का उपयोग किया जाता है। शोध प्रवृत्तियों का निर्देशन डा० शशि कान्त करते हैं। पुस्तकालय दिगम्बर जैन मन्दिर (श्री मुन्ने लाल कागजी धर्मशाला), चारबाग, लखनऊ के एक कक्ष में है और सोम-वार को छोड़कर प्रतिदिन प्रातः ८.३० से १०.३० तक इसके खुलने की व्यवस्था है।

शोधादर्श :

जैन विद्या की विभिन्न विधाओं के विद्वानों एवं चिन्तकों की छुटपुट शोध प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से स्व० डा० ज्योति प्रसाद जी जैन के मार्गदर्शन एवं प्रधान सम्पादकत्व में समिति द्वारा इस चातुर्मासिक शोध पत्रिका का शुभारम्भ फरवरी १९८६ में किया गया था। जून १९८८ में उनके निधन के उपरान्त उनके योग्य सुपुत्र डा० शशि कान्त इस शोध पत्रिका के प्रधान सम्पादन का भार सम्हाले हैं। पत्रिका नियमित रूप से प्रकाशित की जाती है और अब तक हम २७ अंक प्रकाशित कर चुके हैं। वर्ष १९९५ में

प्रकाशति अंक २५, २६ व २७ में २९२ पृष्ठों की उपयोगी सामग्री की व्यापक सराहना हुई है।

तीर्थंकर छात्र सहायता कोष :

वर्ष १९९५–९६ में तीस छात्र-छात्राओं को रु० ९,५४९-५० पै० की अध्यापन सहायता प्रदान की गई। छात्र-छात्रायें कक्षा सप्तम से स्नातकोत्तर स्तर तक के थे। छात्रवृत्ति राशि में इस वर्ष रु० ५०/- प्रति छात्र की वृद्धि की गई।

महावीर जन कल्याण निधि :

वर्ष **१९९५–९६** में पांच असहाय महिलाओं को रु० ३,५७०.०० पै० की सहायता प्रदान की गई।

विवेच्य वर्ष में समिति की विभिन्न प्रवृत्तियाँ प्रगतिशील रही हैं। सोसायटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट के अन्तर्गत समिति के रजिस्ट्रीकरण का नवीकरण भी २९-३-२००१ तक की अवधि के लिए करा लिया गया है। यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया से निरन्तर पत्र-व्यवहार कर एवं भारत सरकार के मा० वित्त मंत्री जी के सौजन्य से अन्ततः यूनिट्स मास्टरगेन–९२ के रु० ५०,०००/- के सर्टीफिकेट प्राप्त कर लिये गये हैं। समिति के अध्यक्ष श्री सुमेर चन्द जी पाटनी, तथा सहयोगीगण–श्री लून करण नाहर, श्री विजय लाल जैन, डा० शशि कान्त, श्री नरेश चन्द्र जैन और श्री रमा कान्त जैन, के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ कि उन्होंने समिति की विभिन्न प्रवृत्तियों को सुचारू रूप से संचालित करने में मुझे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

–अजित प्रसाद जैन
मंत्री

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, प्राप्ति-व्यय विवरण अप्रैल १९९५–मार्च १९९६

प्राप्ति		व्यय	
प्रारम्भिक शेष :			
१) रिजर्व फण्ड	७,९६,९१६.३०	शोध पुस्तकालय	५,०५२.३०
२) बैंक बचत खाता	३०,६७१.८५	शोधादर्श–प्रकाशन एवं वितरण	१४,२२४.५०
३) नकद राशि	५३२.६६	पुस्तक प्रकाशन हेतु जैन मिलन लखनऊ को योगदान	५,०००.००
समिति–सदस्यता शुल्क आदि	४,३१०.००	तीर्थंकर छात्र सहायता कोष	९,६३९.५०
शोधादर्श–ग्राहक शुल्क आदि	२,५३४.००	महावीर जन कल्याण निधि	३,५७०.००
शोध पुस्तकालय :		बैठक एवं समारोह	१,७४२.५०
शासकीय अनुदान व सदस्यता शुल्क	२,३६०.००	रजिस्ट्रेशन नवीकरण	१००.००
साहित्य विक्रय केन्द्र	२४५.००	आडिट फीस	४००.००
बैंक ब्याज	६९,९४५.५९	योग	३९,७२८.८०
अन्य	९०.००	अन्तिम शेष :	
		१) रिजर्व फण्ड	८,५७,६०३.३०
		२) बैंक बचत खाता	७,६६२.४४
		३) नकद राशि	२,६१०.८६
कुल योग	९,०७,६०५.४०	कुल योग	९,०७,६०५.४०

(१) अनाश्रिता – ले० ऐलक समयक्त्व सागर म० ; प्र० अनुदिश प्रकाशन, १४६ परवारान, झांसी-२८४००२; पृष्ठ ८९ ; मूल्य रु० १५/-

(२) नागफनी द्वारे-द्वारे – ले० वही; प्र० जन वीर सेवा दल, झांसी; पृष्ठ ६१; मूल्य-११/-

अनाश्रिता में महासती मनोरमा–सुखानन्द की पौराणिक कथा को एक रोचक लघु उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया गया है। **नागफनी द्वारे द्वारे** ऐलक श्री की २० प्रेरक लघु कहानियों का संकलन है। आ० विद्यासागर जी के सुशिष्य युवा ऐलक श्री सिद्ध-हस्त साहित्यकार हैं तथा शब्दों के कुशल चितेरे हैं। उपन्यास तथा कहानियों में रोचकता अन्त तक बनी रहती है।

तेरी महिमा मेरे गीत — रचनाकार ऐलक उदार सागर म०; प्र० महिला मण्डल तथा अहिंसा महिला मण्डल, झांसी; पृष्ठ १०८

इस पुस्तक में तीन सुप्रसिद्ध भक्ति स्तोत्र — महावीराष्टक, कल्याण मन्दिर स्तोत्र तथा भक्तामर स्तोत्र को मूल संस्कृत, पू. आ० श्री विद्यासागर म० के सुशिष्य युवा ऐलक श्री उदार सागर म० कृत हिन्दी पद्यानुवाद तथा पं० पन्नालाल साहित्याचार्य एवं पं० हीरा लाल 'कौशल' के हिन्दी गद्यानुवाद सहित प्रस्तुत किया गया है।

द्रव्य संग्रह – प्राप्ति स्थान–श्री बसन्त भाई के० खंधार, २ आशियाना स्टर्लिंग पार्क, ड्राइव-इन सिनेमा के पास, अहमदाबाद—३८००५२; पृष्ठ ७६; मूल्य स्वाध्याय

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव (११वी शती वि० पूर्वार्द्ध) द्वारा प्राकृत भाषा में ५८ गाथाओं में विरचित यह लघु ग्रन्थ गागर में सागर की उक्ति को चरितार्थ करता है। द्रव्यानुयोग के इस अत्यन्त महत्वपूर्ण लघुकाय ग्रन्थ में षट् द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त

तत्व, नव पदार्थ, रत्नत्रय, पंच परमेष्ठी का स्वरूप, ध्यान, निश्चय-व्यवहार नय, आदि का संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें मूल प्राकृत गाथा संस्कृत छाया सहित, पं० अजित कुमार शास्त्री दिल्ली कृत हिन्दी भाषानुवाद, गुजराती में अन्वयार्थ तथा पू० आ० विद्यासागर म० कृत ज्ञानोदय छन्द में हिन्दी पद्यानुवाद तथा श्री शरद चन्द्र घोषाल कृत अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किये गए हैं। आचार्य श्री द्वारा १५ वर्ष पूर्व हिन्दी भाषा में ही वसन्ततिलका छन्द में किया गया एक अन्य हिन्दी पद्यानुवाद भी पुस्तक के अन्त में दिया गया है।

ज्ञान का विद्यासागर—प्र० श्री नेमचन्द जैन, पुराना गंज, सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर); पृष्ठ ३८४; मूल्य सदुपयोग

निर्मल आचार के धारी पूज्य आचार श्री विद्यासागर म० वस्तुतः ज्ञान के सागर हैं तथा हिन्दी के सिद्ध कवि हैं। इस जिल्द में उनकी निम्नलिखित मौलिक व अनूदित पद्य रचनाओं का संकलन प्रस्तुत किया गया है —

(क) मौलिक रचनायें—(१) मंगलाचरण अथ श्रमणशतकम्, (२) भावना शतकम् : तीर्थंकर ! ऐसे बने - इसमें तीर्थंकर प्रकृति बन्ध की कारणभूत दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का विवेचन प्रस्तुत है, और (३) ज्ञानोदय।

(ख) अनूदित रचनायें—(१) गोमटेश अष्टक-श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति की गोमटेश थुदि का पद्यानुवाद, (२) रयण मंजूषा—आचार्य समन्तभद्र कृत रत्न करण्ड श्रावकाचार (३) निजामृत पान—भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार पर आ० अमृतचन्द्र सूरि कृत नाटक समयसार कलश का पद्यानुवाद, (४) गुणोदय—आचार्य गुणभद्र कृत आत्मानुशासन का पद्यानुवाद, (५) समन्त भद्र की भद्रता—आचार्य समन्तभद्र कृत बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र का पद्यानुवाद, (६) द्रव्य संग्रह—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव कृत द्रव्य संग्रह का पद्यानुवाद, तथा (७) समण सुत्तं का पद्यानुवाद।

स्वाध्यायी पाठकों के लिये यह संकलन बहुत उपयोगी है।

नवपद साधना—सम्पादक - वीर भान जैन, टोहना मंडी (हरियाणा); पृ० १२

आत्मा अनन्त शक्ति का भण्डार है। आत्मा की शक्ति को केन्द्रित करने तथा उसके निरन्तर हो रहे निष्प्रयोजन क्षय को रोकने के लिए ध्यान-साधना का विधान किया गया है। ध्यान साधना में मन्त्र जाप का महत्वपूर्ण स्थान है। चंचल चित्त को आनुपूर्वी द्वारा मंत्र के विभिन्न पदों पर एकाग्र करने की विधि जैन आचार्यों की मौलिक सोच है। इस पुस्तिका में नवपद आनुपूर्वी (पंचपरमेष्ठी तथा चार आराधनाएं : दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप) प्रस्तुत की गई हैं जो साधकों के लिये बहुत उपयोगी है।

स्वरूप संबोधन—पंचविंशति—श्रीमद् आचार्य भट्टाकलंक देव विरचित [कन्नड-संस्कृत टीका सहित], सम्पादन-अनुवाद एवं विशेष व्याख्या—डा० सुदीप जैन; प्रकाशक—श्री अ० भा० जैन युवा फैडरेशन, अलवर; प्राप्ति स्थान—पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४ बापू नगर, जयपुर-१३ तथा श्री कुन्दकुन्द भारती, १४ बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-६७; पृष्ठ ९४; मूल्य १५/-

महान तार्किक आचार्य श्री मद् भट्टाकलंक देव विरचित द्रव्यानुयोग के इस २५ (या २६) श्लोक प्रमाण अध्यात्म तत्वप्रधान दार्शनिक ग्रन्थ (७२०-७३० ई०) के प्रथम दस श्लोकों में आत्मा के स्वरूप विषयक सैद्धांतिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिनसे अन्य दर्शनों में प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप विषयक मिथ्या मान्यताओं का निराकरण भी होता है। तदुपरान्त आत्मा के सही स्वरूप को समझ कर प्रत्येक परिस्थिति में शक्ति अनुसार वीतराग आत्म तत्व की निरन्तर भावना भाने का उपदेश दिया गया है। ग्रन्थ की भाषा भट्टाकलंक देव की अन्य रचनाओं की ही भांति परिशुद्ध एवं अर्थ-गाम्भीर्य युक्त है। यद्यपि यह ग्रन्थ पहले भी प्रकाशित हो चुका है पर उन प्रकाशनों में मूल पाठ में अनेक अशुद्धियाँ परिलक्षित हुई हैं जिनका विद्वान सम्पादक ने बड़े परिश्रम के साथ निराकरण किया है। मूल पाठ के साथ श्री महासेन पंडितदेव की कन्नड तथा श्री केशव

वर्य एवं एक अन्य अज्ञात कवि की संस्कृत टीकाएं भी प्रकाशित की गई हैं जो अब तक अप्रकाशित थीं। ३९ पृष्ठों की पांडित्यपूर्ण प्रस्तावना में सम्पादक जी ने ग्रन्थकर्त्ता व टीकाकारों का परिचय, उनका काल निर्णय तथा ग्रन्थ की विषय वस्तु का विवेचन प्रस्तुत किया है।

–अजित प्रसाद जैन

श्रमण – वर्ष ४६, अंक १०–१२ (अक्टूबर-दिसम्बर, १९९५); सम्पादक : प्रोफेसर सागरमल जैन; प्र. पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

प्रस्तुत अंक में दो खण्ड हैं–हिन्दी खण्ड व अंग्रेजी खण्ड। हिन्दी खण्ड में ९ शोध निबन्ध हैं, १४ पुस्तकों की समीक्षाएँ है और जैन-जगत के विविध समाचार हैं। अंग्रेजी खण्ड में ५ शोध निबन्ध हैं। कुछ निबन्धों में सामान्य पाठकों के लिए भी रोचक जानकारी है, यथा डा. अरुण प्रताप सिंह का निबन्ध-'भगवान महावीर की निर्वाण-तिथि : एक पुनर्विचार'। जैन धर्म सम्बन्धी विभिन्न ग्रन्थों प्लूटा और जस्टिन के यूनानी विवरणों तथा चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक से सम्बन्धित बौद्ध साक्ष्यों के आलोक में विद्वान लेखक ने महावीर के निर्वाण की तिथि ४८१ ई. पू. में निर्धारित की है। इस तिथि के निर्धारण में लेखक को महात्मा गौतम बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी चीन की कैण्टन परम्परा और सिंहली परम्परा को भी ध्यान में रखना पड़ा। डा. श्रीरंजन सूरिदेव ने 'सन्देशरासक में पर्यावरण के तत्त्व' नामक अपने निबन्ध में इस अपभ्रंश काव्य में वर्णित अनेक वनस्पतियों का उल्लेख किया है जिनसे साम्बपुर नामक नगर की शोभा थी। १०५ वनस्पतियों की यह सूची न केवल वनस्पतिशास्त्र के अध्येताओं के लिए गवेषणीय है अपितु इससे पर्यावरण महत्ता की स्थापना होती है। जनसामान्य रुचि के अन्य निबन्ध हैं 'समकालीन जैन समाज में नारी' (डा. प्रतिभा जैन) तथा 'प्राचीन जैन कथा साहित्य का उद्भव, विकास और वसुदेव हिण्डी' (डा. कमल जैन)।

अंग्रेजी खण्ड में उल्लेखनीय हैं 'Panis and Jainism' by Dr. S. P. Naranga, 'Select Vyantara Devatas in Early Indian Art and Literature' by Dr. Nandini Mehta और 'Sri Hanumana in Padmapurana' by Dr. Surendra Kumar Garg. डा. नारंग ने 'पणि' नामक व्यापारिक जाति की पहचान फोनेशियन्स से की है जिन्होंने, उनके अनुसार, सिन्धु घाटी में अपने व्यापारिक क्षेत्र बना लिये थे। ऋग्वेद के आधार पर डा. नारंग की मान्यता है कि पणियों में शान्ति, अहिंसा, बुद्धि तथा सम्पदा अधिक थी जिसे आर्यों के अगुआ इन्द्र ने नष्ट करने का प्रयत्न किया था। इन्द्र द्वारा सताए जाने पर पणि लोग देश के अन्य भागों में चले गये जहाँ उन्होने अपने धर्म का प्रचार-प्रसार किया और आज भी उनके वंशज यहाँ मौजूद हैं। डा. नारंग का विचार है कि 'पणि' जाति के गुण-धर्म जैन धर्म जैसे थे। जैन धर्म का फोनेशियन धर्म से विकसित होना विचारणीय है।

—डा० ए० एल० श्रीवास्तव

हिन्दी भारती के कुछ जैन साहित्यकार – ले० श्री रमा कान्त जैन; प्र० जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, श्री महावीर जी–३२२२२०/दिगम्बर जैन नसिया भट्टारक जी, सवाई राम सिंह रोड, जयपुर-३०२००४; १९९५; पृ० vi+५८; मूल्य ५.००

जैन इतिहास के प्रेरक व्यक्तित्व, भाग-२, और सर्वोदय पुस्तकमाला, पुष्प-१०, के रूप में यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के ८ जैन साहित्यकारों का समीक्षात्मक परिचय और इस शती के पूर्वार्द्ध की १२ जैन कवियित्रियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करती है। यह ध्यातव्य है कि हिन्दी भारती को समृद्ध करने वाले ये सभी साहित्यकार सद्गृहस्थ थे।

बनारसी दास (१५८६–१६४४ ई०) हिन्दी के प्रथम आत्म-चरित्र के रचनाकार और रहस्यवादी-आध्यात्मिक कवि थे जिनकी रचनाओं में समकालीन राजनीतिक-सामाजिक दशा पर

भी समुचित प्रकाश पड़ता है। द्यानत राय (१६७६–१७२६ ई०) और भूधरदास (१६९३-१७४९ ई०) ने प्रायः प्रकीर्णक रचनायें लिखी जो आध्यात्मिकता पर आधारित थीं और जिनमें समकालीन हिन्दी कवियों की मात्र शृंगारिक मानसिकता पर चोट भी की गई थी। दौलतराम कासलीवाल (१६९२–१७७२ ई०) को हिन्दी गद्यरूपी शिशु को परिपुष्ट करने का श्रेय जाता है; उनकी गद्य में ७ मौलिक रचनायें, ७ भाषावचनिकायें और ३ टब्बा टीकायें उपलब्ध हैं जिनमें कथा, चरित और पुराण साहित्य के साथ ही गूढ़ दार्शनिक साहित्य भी है। बुधजन (१७७३–१८३८ ई०) ने नीति-उपदेशात्मक दोहों और रागबद्ध आध्यात्मिक पदों की रचना की। दौलतराम पल्लीवाल (१७९८–१८६६ ई.) की सबसे प्रसिद्ध कृति **छहढाला** है; उन्होंने अध्यात्मिक पद-भजन भी लिखे। पं. नाथूराम प्रेमी (१८८१–१९५९ ई.) जैन साहित्य और इतिहास के गम्भीर अध्येता और स्वयं कवि होने के साथ ही हिन्दी साहित्य के अप्रतिम प्रकाशक रहे और उनका हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय साहित्यकारों की आश्रयस्थली रहा। फूलचन्द्र 'पुष्पेदु' (१९१४-६३ ई.) एक आस्थावान और आशावादी कवि थे; रचनायें उनकी अपनी अनुभूतियों पर आधारित सरल और प्रसादगुण से युक्त हैं।

१९३०-५० में श्रीमती मैनावती, लज्जावती, कमलादेवी 'राष्ट्रभाषा-कोविद', कुन्थ कुमारी, कमलादेवी, सुन्दरदेवी, छन्नोदेवी, चंद्रप्रभा देवी, रूपवती देवी 'किरण', मणिप्रभा देवी, प्रेमलता 'कौमुदी' और कुसुमकुमारी ने हिन्दी भारती के भण्डार को उस समय समृद्ध किया जब सामान्यतः स्त्री-शिक्षा गौण समझी जाती थी।

श्री रमा कांत जैन ने हिन्दी के उपरोक्त साहित्यकारों का साहित्यिक मूल्यांकन करके और उसे सुव्यवस्थित रूप में, एक सहज पठनीय शैली में, प्रस्तुत करके एक अभाव की पूर्ति की है। लेखक के गम्भीर अध्ययन, साहित्यिक अभिरूचि और समवेत समीक्षा पद्धति के दर्शन इस पुस्तक में होते हैं। पुस्तक की प्रस्तुति के लिये श्री रमा

कांत और सुंदर प्रकाशन के लिये डा. कमल चंद सोगाणी तथा जैन विद्या संस्थान श्री महावीर जी साधुवाद के पात्र हैं। पुस्तक संग्रहणीय है।

JAIN JOURNAL — Vol. XXIX, No. 1 (July 1994), Ed. Satya Ranjan Banerjee ; Pub. Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Calcutta-700007 ; pp 48 ; Rs. 5/-

It contains—

1. Journey to home in the lotus—a long poem on Rajula, the consort of Arishtanemi, by Leona Smith Kremser,

2. The 24 Buddhas and the 24 Tirthankaras, by Suzuko Ohira, and

3. Danachintamani Attimabbe — An Appraisal (with the text of Attimabbe - Sasana), by Vasantha Kumari.

Although Prof. Ohira's paper is well written and is scholarly, it is likely to offened our traditional belief For that matter, any historical analysis and scientific reconstruction may tend to be so, but we have to reconcile with the truth and not treat it as something blasphemous.

There is force in her thesis that the tradition of 24 Tirthankaras is a later development. Archaeological evidence bears out that in the Ist to 3rd centuries of the Christian era, names of only 7 Tirthankaras can be identified, and in the next 2 centuries only 2 more names were added. Historically speaking, the traditional lore on the Indian soil developed about a thousand years after Mahavira and Buddha. The mythologies of Jains, Buddhists, Vaishnavas and Saivas grew simultaneously, and an effort was also made to syncretise. Accordingly, many of the Brahmanic gods and goddesses were adopted in the Jain pantheon as Sasana Devata, the attending deities of the Tirthankaras. Risabha and Buddha were adopted as Avatara of Vishnu. Digambara, bull and trident were adopted as the name, vehicle and *ayudhya* of Siva. Also, the popular deities like Rama, Krishna and other personages like Ravana, Lakshman, Balarama, were also taken in the Jain list of 63 *Salaka purusha*. Sita and Draupadi are also Satis in the Jain

lore. In this connection my paper 'Some common elements in the Jain and Hindu Pantheons', published in the *Jaina Antiquary*, XVIII-2 & XIX-1, may also be referred.

I have also my reservations about the Lohanipur torso, supposed to be a fragment of the earliest tirthankara image belonging to the Maurya period. The anthropomorphic representation is not dated prior to the Kushana period. An isolated find does not lead to any conclusion. More so, the image is not carved *in situ* but parts have to be joined through tenons. The extant specimens are all carved *in situ*.

On a further thought, I feel that the 'Kalinga Jina' mentioned in the Hathigumpha Inscription of Kharavela was not an image of some tirthankara, but the term may indicate some symbolic object of worship which was a heirloom of the Kalinga royal family.

जैन न्याय की भूमिका – ले० डॉ० दरबारी लाल कोठिया; प्र० जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी-३२२२२०/सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-३०२००४; १९९५; पृ० xi + १२३; मूल्य १००/७० रु०

पुस्तक के पांच अध्याय क्रमशः प्राग्वृत्त, दर्शन और उसके प्रमुख अंग, न्यायविद्या और उसके अंग, वाद-विद्या, तथा जैन तार्किक और उनके न्यायग्रन्थ, हैं। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि जैन न्याय (तर्क शास्त्र) का इसमें अन्य भारतीय दर्शनों से तुलना करते हुए और गूढ़ विषय को सामान्य पाठक के लिए सहज करते हुए, परिचय दिया गया है। लेखक ने इसमें आस्थागत पक्ष-साधन को गौण करते हुए विषय-वस्तु को न्याय सिद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। यह स्पष्टोक्ति लेखक की निष्पक्षता का प्रमाण है कि "आज जो आंशिक द्वादशांग श्रुत उपलब्ध है वह तीर्थंकर महावीर से सम्बद्ध है। अन्य सभी तीर्थंकरों का श्रुत लेखबद्ध न होने तथा स्मृतिधारकों के न रहने से नष्ट हो चुका है।..... दिगम्बर परम्परा के अनुसार जो श्रुत उपलब्ध है वह १२वें अंग दृष्टिवाद का कुछ अंश है..... शेष ११ अंग और १२वें अंग का बहुभाग नष्ट हो चुका है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार देवर्द्धिगणि के नायकत्व में तीसरी

वलभी-वाचना में संकलित ११ अंग मौजूद हैं जिन्हें दिगम्बर परम्परा में मान्य नहीं किया गया। यह परम्परा १२वें अंग दृष्टिवाद का समग्ररूप में विच्छेद स्वीकार करती है। आज आवश्यकता है कि दोनों परम्पराओं के अवशेष श्रुत का तटस्थभाव से अध्ययन करें और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालें तथा जैनसंघ और जैनश्रुत को अखण्ड बनाएं।"

जैन दर्शन और जैन न्याय का विकास वैदिक और बौद्ध दर्शनों एवं न्यायों के संघात से ई० २०० से १७०० तक हुआ। समन्तभद्र, अकलंक और प्रभाचन्द्र विशिष्ट नैयायिक हुए। भारतीय दर्शन और न्याय का प्रखर काल ई० ६५० से १०५० था और इस काल में अंकलक ने विभिन्न वादियों द्वारा स्याद्वाद और अनेकान्त पर आरोपित दूषणो का सयुक्तिक परिहार किया।

न्याय-विद्या क्या है और वाद-विद्या क्या है, इसको सरल भाषा में तर्क प्रणाली और शास्त्रार्थ प्रणाली कहा जा सकता है। सभी भारतीय चिन्तन धाराओं में इनका विशेष महत्व रहा है। इस्लाम में फलस्फा तो नहीं के बराबर है पर मिन्तख का वहाँ भी महत्व है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन शास्त्र Logic के बिना अपूर्ण है। अतः दार्शनिक चिन्तन के विकास में नैयायिकों की विशिष्ट भूमिका रही है।

२री शती से १८वीं शती के ३४ जैन तार्किकों, जिनमें दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी समाविष्ट हैं, का परिचय विषयानुरूप है। साथ ही, २०वीं शती के सभी जैन विद्वानों का नाम-परिचय भी दिया गया है जिन्होंने जैन दर्शन और न्याय साहित्य का आधुनिक विधा से अध्ययन, आकलन और मूल्यांकन किया है; इस वर्ग में इस पुस्तक के प्रणेता डा. दरबारी लाल जी कोठिया स्वयं भी हैं जिन्होंने अपने जीवन के ६० वर्ष से अधिक इस विद्या के अध्ययन-अध्यापन-अनुसंधान में लगाये हैं और आज जैन दर्शन व न्याय के प्रौढ़तम जैन विद्वान हैं।

(शेष पृष्ठ १०७ पर)

समाचार विमर्श

—श्री अजित प्रसाद जैन

चमत्कार को नमस्कार

निकलंक, इन्दौर, में प्रकाशित एक समाचार – "दिल्ली के एक मन्दिर में विगत दिनों एक पोस्टर देखने में आया जिसमें एक दिगम्बर मुनिराज फन फैलाए सर्प को मुसकरा कर आशीर्वाद दे रहे हैं। सत्यता की तलाश करने पर पता चला कि एक सपेरे को बुला कर फन फैला कर सर्प को खड़ा किया गया और फोटोग्राफर को बुला कर आशीर्वाद की मुद्रा में फोटो खिचवा लिया गया तथा मल्टीकलर कलेन्डर पूरे देश में बटवा दिए गए।"

उपरोक्त समाचार को पढ़ कर हमें बड़ा क्षोभ हुआ। क्या हमारे घोर तपस्वी वीतरागी मुनिराजों में यश वा ख्याति की चाहना इतनी बलवती हो गई है कि वे इसके लिए मायाचार का सहारा लेने के लिए भी तत्पर हो जाते हैं? हमें नहीं मालूम कि ये मुनिराज एकल विहारी हैं या उन्होंने अपने गुरु महाराज के संघ में स्थित रहते हुए ही उपरोक्त कृत्य का प्रदर्शन किया। हमें यह भी नहीं मालूम कि क्या दिल्ली की प्रबुद्ध समाज ने जिसमें महासमिति, परिषद एवं महासभा के राष्ट्रीय नेता भी सम्मिलित हैं, मुनिराज के इस बचकाने कृत्य की भर्त्सना की।

मुनिराज का यह चित्र भगवान महावीर का अपने साधना काल में नागराज चंड कौशिक को क्षमादान से अभय करते हुए की

(पृष्ठ १०६ का शेष)

एक गूढ़ विषय को सरल भाषा में तथा सहज और सुबोध शैली में प्रस्तुत करने के लिए लेखक और सुन्दर प्रकाशन के लिए जैन विद्या संस्थान, साधुवाद के पात्र हैं। पुस्तक विषय के गम्भीर अध्येताओं और सामान्य जिज्ञासुओं, दोनों ही के लिए उपयोगी है।

—डा० शशि कान्त

याद दिलाता है। कदाचित् इन मुनिराज को भी एक अन्य आचार्य श्री की भांति भगवान महावीर का जीवन्त अभिनय करने का भाव हुआ हो। सर्प व सिंह जैसे महाक्रोधी हिंस्र पशुओं का परम शान्त मुद्रा के धारी वीतरागी संतों के सानिध्य में शान्त परिणामी हो जाना तथा उनके प्रति अपनी विनय प्रदर्शित करना कोई अनहोनी घटना नहीं है। अनेक योगियों के जीवन वृत्तों में इसके उदाहरण मिल जाएंगे। किन्तु इस प्रकार से कृत्रिम चित्र बनवाना तो मायाचार ही कहा जायेगा।

जब से धरणेन्द्र ने नाग रूप धारण कर भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ के उपसर्ग का निवारण किया तथा भगवान महावीर ने अपने बाहर-अन्तर की क्षमा से चंड कौशिक को अभय दान दिया, श्रमण साधु-संतो में सर्प के प्रति विशेष आकर्षण दृष्टिगोचर होता है। किसी श्रद्धालु भक्त ने एक ध्यानस्थ आचार्य श्री के पास एक सर्प को जाते हुए देख लिया था। इस पर उसने यह प्रचारित कर दिया कि आचार्य श्री के मस्तक पर सर्प फन काढ़े बैठा था तथा आचार्य श्री के सर पर फन काढ़े सर्प सहित चित्र के कलेन्डर छपा कर वितरित कर दिए गये थे। यहाँ रोचकता की बात यह है कि आचार्य श्री पर कोई उपसर्ग नहीं हो रहा था जिसके निवारण के लिए सर्प ने फन ताना हो। एक अन्य आचार्य श्री के विषय में यह बहुप्रचारित हुआ है कि एक नागराज नियमित रूप से उनका प्रवचन सुनने के लिये आते हैं जबकि आधुनिक विज्ञान वेत्ता कहते हैं कि सर्प में श्रवणेन्द्रिय होती ही नहीं।

कुछ मुनिराजों के चरण चिन्ह पाटे पर आहार लेने के लिए खड़े होते समय अंकित हो जाते सुने गये हैं। हम इस सिद्धि या अतिशय की उपलब्धि पर शंका न करते हुए भी यह समझने में असमर्थ हैं कि ऐसी सिद्धि की क्या सार्थकता है जिससे मानव समाज का तथा स्वयं उन मुनिराज का कोई हित न हो सके। प्राचीन काल में विष्णु कुमार मुनिराज की कथा आती है जिन्हें यह पता ही नहीं

था कि उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्राप्त है। पता चलने पर उन्होंने अपनी ऋद्धि का उपयोग मुनि संघ के उपसर्ग के निवारण के लिये किया और उसके बाद उस ऋद्धि की ओर कभी ध्यान भी नहीं दिया। प्राचीन काल में किसी महातपस्वी मुनिराज के भी चरण चिन्ह इस प्रकार अंकित हुए हों, ऐसा हमारे देखने, सुनने या पढ़ने में नहीं आया।

अभी **श्वेताम्बर जैन** (१ फरवरी ९६ के अंक) में पढ़ने में आया कि नवोदित श्री **अमीझरा शांतिनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ** गुड़गांव में १ दिसम्बर को जिन बिम्ब, गुरु मूर्ति तथा माता पदमावती की प्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय हजारों श्रद्धालुओं की उपस्थिति में माता पदमावती देवी की भव्य प्रतिमा से प्रचुर मात्रा में अमी वर्षा हुई जिसे भक्त जनों ने अपने मस्तक पर श्रद्धापूर्वक धारण किया। यह प्रतिष्ठा महोत्सव कई आचार्य भगवन्तों की शुभ निष्ठा से सम्पन्न हुआ। पहले भी कई बार श्वेताम्बर मन्दिरों में मूर्तियों से अमी झरने की चमत्कारिक घटना पढ़ने में आयी थी। हमारी समझ में नहीं आता कि दिगम्बर जैन मन्दिरों में भी कई जगह पद्मावती देवी की मूर्ति स्थापित है पर वहाँ कभी इस प्रकार की कोई चमत्कारिक घटना सुनने में क्यों नहीं आई।

जन मानस सदा ही चमत्कार को नमस्कार करता आया है तथा जिस किसी मूर्ति, मन्दिर या साधु के साथ कोई चमत्कारिक घटना/अतिशय जुड़ जाता है उसकी यश वा ख्याति में उफान आ जाता है तथा श्रद्धालु जनों की भीड़ उसका दर्शन करने को टूट पड़ती है, भले ही विज्ञ जन इसे धर्म-मूढता ही क्यों न कहें। हम तो इस प्रकार के कृत्रिम चमत्कार, ऋद्धि या अतिशय की रचना करने वालों या अनुमोदन करने वालों से केवल यह निवेदन करना चाहते हैं कि ऐसा करना मायाचार की कोटि में आता है और मायाचार से तिर्यन्च योनि का बन्ध होता है (माया तैर्यग्योनस्य––तत्त्वार्थ सूत्र, ५/१६)।

क्या मिल रहा है कटुता बढ़ाने में

जैन जगत के विख्यात साहित्यकार एवम् पुरातत्वविद् श्री नीरज जैन ने एक श्वेताम्बर (मूर्ति पूजक) आचार्य सूरि-शिशु श्री नरेन्द्र सागर सूरि कृत तथा श्री जम्बूद्वीप वर्द्धमान जैन पेढी, पालीताना, से प्रकाशित पुस्तक "दिगम्बर आगेवान चामुण्डराय मंत्रीनु भयंकर कावतरु" याने "गोमटेश्वरनी मूर्तिनो करेल काया-पलट" (अर्थात्, दिगम्बर सरदार चामुण्डराय का भयंकर कपट : गोमटेश्वर प्रतिमा का रूपान्तरण) को हाल ही प्रकाश में लाकर दिगम्बर जैन समाज को भयंकर रूप से उद्वेलित कर दिया है।

श्री सूरि-शिशु जी ने अपनी इस नवीन पुस्तक में यह प्रतिपादित किया है कि श्रवणबेलगोला की इन्द्रगिरि पहाड़ी पर स्थित ५७ फुट उत्तुंग भगवान गोम्मटेश्वर बाहुबलि की विश्व-विख्यात प्रतिमा मूल रूप में सम्राट सम्प्रति द्वारा निर्मित कराई गई अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु स्वामी की थी जिन्होंने वहाँ समाधिमरण किया था। दिगम्बर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ति की प्रेरणा से उनके शिष्य चामुण्डराय ने सामन्तशाही के जोर से इस मूर्ति पर कछोटी की जगह 'पुरुष चिन्ह' बनवाकर मूर्ति की काया पलट इस प्रकार कर दी कि भविष्य में जनता यह मान ले कि यह प्रतिमा और यह तीर्थ दिगम्बर समाज का ही है। "किसी श्वेताम्बर महर्षि की यह मूर्ति है", ऐसा प्रमाण मिटाने के लिए मूर्ति के पैरों के पास बाँबी और सांप बना दिये तथा हाथों तक बेलें बना कर बाहुबली की मूर्ति के रूप में प्रस्तुत करने का भयंकर कपट एक हजार वर्ष पूर्व चामुण्डराय मंत्री ने किया।

उपरोक्त गप्प कदाचित सूरि-शिशु जी को स्वयं को भी पूरी तरह विश्वसनीय नहीं लगी तो उन्होंने पुस्तक के पृष्ठ ६५–६९ पर एक दूसरी कहानी भी लिख मारी कि यह मूर्ति मूल रूप में श्वेताम्बर आचार्य आर्य सुहस्ति की थी जिसे उनके शिष्य सम्राट सम्प्रति ने अपने गुरू की स्मृति को अमर करने के लिए निर्मित कराया था।

शताब्दियों बाद चामुण्डराय मन्त्री ने इस मूर्ति का दिगम्बरीकरण कराकर (अर्थात् पुरुष-चिन्ह आदि बनवाकर) इसे गोमटेश्वर बाहुबलि के नाम से विख्यापित कराया।

हमारी समझ में नहीं आता कि अपनी इस भौंडी कल्पना के पीछे सूरि-शिशु जी का वास्तविक आशय क्या है। इतने भोले तो वे होंगे नहीं जो यह समझते हों कि इस कपोल कल्पना को प्रचारित कर वे या उनके श्वेताम्बर भक्त गण तथा इस पुस्तक की प्रकाशक श्वेताम्बर पेढी श्रवणबेलगोला के दिगम्बर जैन मठ को हथिया लेंगे तथा गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा का श्वेताम्बरीकरण करने या उसे विकृत/खण्डित करने का अधिकार पा जावेंगे। इस सम्बन्ध में हम सूरि-शिशु जी से निम्नलिखित प्रश्न अपने ज्ञानवर्द्धन के लिये पूछना चाहेंगे :—

(१) क्या वे या उनके समर्थक श्वेताम्बर भक्त गण एक भी दृष्टान्त (सप्रमाण) प्रस्तुत कर सकते हैं जिसमें दिगम्बरों द्वारा किसी भी श्वेताम्बर प्रतिमा का दिगम्बरीकरण किया गया हो या करने का प्रयास किया गया हो (अर्थात् सचेल प्रतिमा को अचेल बनाया गया हो तथा कछोटे के स्थान पर पुरुष-चिन्ह बना दिया गया हो) जब कि ऐसे कई दृष्टान्त उपलब्ध हैं जिनमें पद्मासनस्थ दिगम्बर तीर्थंकर प्रतिमा के पाद-पीठ पर कछोटे के चिन्ह स्वरूप कुछ लकीरें उकेर कर तथा प्रतिमा पर आँखें चढ़ा कर उसे श्वेताम्बर प्रतिमा बना दिया गया या बनाने का प्रयास किया गया।

(२) श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कई ज्योतिर्धर, घोर तपस्वी, एवं शासन प्रभावक आचार्य हुए हैं। किन्तु क्या किसी भी आचार्य की **ध्यान मुद्रा में खड्गासन प्रतिमा** कहीं भी स्थापित हुई है ? यदि कहीं ऐसी प्रतिमा स्थापित हो तो हमें उसकी पूरी जानकारी देने की कृपा करें ताकि हम भी दर्शन कर सकें।

हम सूरि-शिशु जी की जानकारी के लिए बताना चाहेंगे कि ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों तक में भी श्वेताम्बर जैनाचार्यों

द्वारा दिगम्बर तीर्थंकर प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराई जाती थीं (ऐसी प्रतिमा लखनऊ म्यूज़ियम में देखी जा सकती हैं)। यदि सूरिशिशु जी एक बार श्रवणबेलगोला जाकर भगवान गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा के दर्शन कर लेते तो उन्हें यह भली भांति स्पष्ट हो जाता कि यह प्रतिमा पहाड़ी के शिखर की शिला को ही काट-छांट कर गढ़ी गई है, कहीं अलग से लाकर नहीं खड़ी की गई है तथा बांबी, सर्प, बेल, पुरुष-चिन्ह भी कहीं अलग से लाकर नहीं लगा दिये गए हैं बल्कि प्रतिमा के निर्माण के साथ ही उसी शिला में गढ़े गए हैं। इस प्रतिमा के अंग-उपांगों की संरचना एक निश्चित अनुपात में इतनी निर्दोष हुई है कि बड़े-बड़े मूर्तिकला विशेषज्ञ इसके देह सौष्ठव-जन्य अप्रतिम सौन्दर्य को देख कर दंग रह जाते हैं।

श्री सूरिशिशु के इस विकृत मानसिक व्यायाम का यह आशय तो स्पष्ट है ही कि येन केन प्रकारेण श्री सम्मेदशिखर विवाद से भड़की साम्प्रदायिक विद्वेषाग्नि को हवा देते रहें, वह बुझने न पाए। श्री नीरज जी ने यह भी प्रकट किया है कि ये सूरिशिशु पूर्व में भी श्री शिखर जी के विवाद के सन्दर्भ में भ्रामक व सत्य से परे समाचार छापकर श्वेताम्बर समाज को गुमराह करते रहे हैं जिससे श्वेताम्बर समाज में उत्तेजना बढ़ी है। कुछ समय पूर्व एक अन्य श्वेताम्बर जैनाचार्य श्री अभयसोम सूरीश्वर जी ने **हाथ में तलवार लेकर** श्री शिखर जी पर श्वेताम्बर समाज के स्वत्व की रक्षा के लिये संकल्प लिया था। श्री सूरीश्वर जी तथा सूरिशिशु जी जैसे कतिपय साधुगण ने दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों में कटुता बढ़ाना अपने साधु जीवन का मिशन ही बना लिया है। वे भगवान महावीर तथा गणधरों द्वारा उपदिष्ट साध्वाचार को अब नए रूप में पारिभाषित कर रहे मालूम पड़ते हैं।

हम नहीं समझते कि श्वेताम्बर समाज का बहुसंख्यक प्रबुद्ध वर्ग सूरिशिशु श्री नरेन्द्रसागर सूरि ने इस पुस्तक के माध्यम से दिगम्बर व श्वेताम्बर समाज के बीच कटुता बढ़ाने का जो उपक्रम

किया है, उसका समर्थन करते होंगे तथा उन्होंने मानसिक विकृति के वश अपनी कल्पना की उड़ान से भगवान गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा के निर्माण के बिषय में जो ऊलजलूल कहानी गढ़ डाली है, उसमें किंचित भी विश्वास करेंगे। फिर भी हमें आश्चर्य होता है कि न तो किसी श्वेताम्बर जैन समाचार पत्र-पत्रिका ने सूरिशिशु के इस कल्पना कर्दम की आलोचना की है और ना ही उक्त समाज के किसी प्रबुद्ध आचार्य ने उनके इस कृत्य की भर्त्सना की है। सूरिशिशु जी "शासनकन्टकोद्धारक" के विरुद से अपने को अलंकृत किए हुए हैं। हमें नहीं मालूम कि यह उपाधि उन्हें श्री संघ द्वारा प्रदान की गई है या उन्होंने स्वयं ही धारण कर ली है किन्तु अपने कृत्य से तो वे "शासन कन्टक" का विरुद अधिक चरितार्थ कर रहे हैं।

जैन धर्म के अति प्राचीन, वैज्ञानिक एवं व्यवहार्य होने के बावजूद आज जैन धर्मावलम्बी देश की जनसंख्या के १% से भी कम है, तिस पर भी वे दिगम्बर और श्वेताम्बर, तथा श्वेताम्बर भी मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी आदि, समुदायों में विभक्त हैं। जैन धर्म के मूल-भूत सिद्धान्त इन सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य हैं, सब उनमें समान रूप से आस्था रखते हैं तथा यथा-शक्य अपना आचरण उनके अनुसार ढालने का प्रयास करते हैं। सम्प्रदाय मतभेद तो कुछ इनी-गिनी गैर-जरूरी सैद्धान्तिक मान्यताओं को लेकर है जिनको मानने या न मानने से मोक्ष मार्ग के साधक को अपने आध्यात्मिक विकास में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हम सब भगवान महावीर की सन्तान हैं लेकिन जैसा कि अक्सर लोक में देखने में आता है भाई-भाई एक दूसरे से बहुत छोटी-छोटी बातों पर आपस में वैमनस्य रखने लगते हैं, लड़ने लगते हैं तथा दूसरों की निगाह में अपने को उपहास का पात्र बना लेते हैं, उसी प्रकार हम दूसरों को तो अनेकान्त दृष्टि, सर्वधर्म समभाव, सह-अस्तित्व, सत्वेषु मैत्री का उपदेश देते नहीं थकते पर अपने सम्प्रदाय वाद में कट्टर असहिष्णुता व दृढ़धर्मिता का प्रदर्शन करते हैं। हमें जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच कटुता बढ़ाने वालों का, चाहे वे समाज नेता हों या धर्म

गुरू, कड़ा एवं मुखर विरोध करना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तीर्थंकर महाप्रभु का एक विरुद 'परम उदार' भी है। क्यों हमारे समाज नेता सिद्ध क्षेत्रों एवं कल्याणक क्षेत्रों पर उठे साम्प्रदायिक विवादों को आपसी बातचीत से सौहार्दपूर्ण वातावरण में नहीं सुलझा सकते तथा हमारे वीतरागी धर्म गुरू समुचित मार्ग-दर्शन नहीं देते, जबकि ये तीर्थक्षेत्र सभी आस्थावान जैन धर्मावलम्बियों की पूर्वजों से प्राप्त समान विरासत है? आखिर क्यों?

त्रय गजरथ सहित पंच कल्याणक तथा गुरु मन्दिर स्थापना

इटावा में दि० २१ से २६ जनवरी १९९६ तक आचार्य सुमतिसागर के पट्टाचार्य सिंह-रथ-प्रवर्तक आचार्य श्री स्याद्वाद-विद्याभूषण सन्मतिसागर के मार्ग दर्शन एवं ससंघ सानिध्य में त्रय गजरथ सहित श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव विविध अन्य कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न हुआ। यह आयोजन नसिया जी पर नव निर्मित विशाल जिन मन्दिर में त्रिमूर्ति (भरत व बाहुबली सहित भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा) की स्थापना तथा आचार्य सुमतिसागर की स्मृति में **गुरु मन्दिर** की स्थापना के निमित्त से किया गया। इस अवसर पर आचार्य सुमतिसागर की परम्परा के तीस से अधिक साधु-साध्वियों ने महोत्सव को अपने सानिध्य से गरिमा मंडित किया।

दीक्षा कल्याणक के दिन आचार्य श्री ने छुल्लक चन्द्रभूषण जी को मुनि दीक्षा दी व उन्हें मुनि समताभूषण नाम दिया तथा ब्र० बहिन संगीता, एम० ए०, को आर्यिका दीक्षा देकर उन्हें आर्यिका स्वस्तिभूषण माता जी नाम दिया।

गुरु मन्दिर — श्वेताम्बर जैन आम्नाय में दादाबाड़ी के नाम से गुरु मन्दिरों की स्थापना १४वीं-१५ वीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गई थी तथा अब एक आम प्रथा हो गई है, किन्तु भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा संस्कारित दिगम्बर जैन आम्नाय में ऐसी कोई प्रथा नहीं है तथा यह एक नई शुरुआत है। दिगम्बर जैन परम्परा में अनेक

ज्योतिर्धर, घोर तपस्वी, ऋद्धि-सिद्धि धारक, शासन प्रभावक आचार्य एवं मुनिराज हुए हैं किन्तु किसी के निमित्त से गुरु मन्दिर की स्थापना तो दूर, मूर्ति स्थापित करने के विषय में भी कभी नहीं सोचा गया। देवगढ़ आदि से आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी की मूर्ति अवश्य मिली हैं पर किसी व्यक्ति विशेष की नहीं। विगत दो-तीन दशकों में कतिपय आचार्यों की मूर्ति (आ० महावीरकीर्ति तथा आ० विमलसागर की समवशरण मन्दिर, शिखर जी, में आ० देश-भूषण की खनिया, जयपुर, में तथा कदाचित् अन्यत्र भी) अवश्य स्थापित की गई हैं किन्तु इस युग के सर्वाधिक-ख्याति प्राप्त चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर महाराज की परम्परा के साधुओं ने अभी तक इस व्यक्ति-पूजा के व्यामोह से अपने को अछूता रखा है। इटावा में स्थापित गुरु मन्दिर में जाहिर है कि आ० सुमतिसागर महाराज की प्रतिमा भी स्थापित की गई होगी तथा उनकी पूजा-आरती भी होने लगी होगी।

त्रिमूर्ति स्थापना – दिगम्बर जैन आम्नाय में मूर्ति पूजा का स्थान सीमित ही है। जिन मन्दिर को समवशरण का प्रतीक तथा वेदी में स्थापित जिन बिम्ब को दिव्य ध्वनि खिरने के तत्काल बाद गंध-कुटी में विराजित तीर्थंकर महाप्रभु का प्रतीक माना गया है। तीर्थंकर भगवान को ही जिनेन्द्र कहा गया है। उन अष्टादश दोष रहित, परम वीतरागी, प्राणि हितोपदेशी, तीर्थंकर भगवान का दर्शन, पूजन व ध्यान भी केवल उनके गुणों की प्राप्ति की कामना से किया जाता है। प्राचीन काल में तथा मध्य काल तक केवल तीर्थंकरों की प्रतिमा ही जिन मन्दिरों में प्रतिष्ठित किये जाने के उल्लेख मिलते हैं। बाद में अपवाद स्वरूप बाहुबली स्वामी की तपस्यारत खड्गासन मूर्तियों का निर्माण कदाचित् तप की उत्कृष्टता को दर्शाने के लिये किया जाने लगा। पर अब इस शती के उत्तरार्ध में तो त्रिमूर्ति (भरत, बाहुबली सहित भगवान ऋषभदेव) की स्थापना का प्रचलन शिव परिवार (गणेश, कार्तिकेय व पार्वती सहित शिव) की तर्ज पर किया जाने लगा है। कदाचित् हमने जिन मन्दिर में जिनेन्द्र के दर्शन-पूजन

के मूल प्रयोजन को ही विस्मृत कर दिया है। कदाचित् इसी प्रकार की पारिवारिक परम्परा का पोषण करने के लिए हमारे कतिपय पूज्य आचार्य एवं आर्यिकाएं अपने सांसारिक स्वजनों को उन्हें त्यागी व्रती बनाकर भी अपने संघ में ही रखने का मोह नहीं त्याग पाते।

दीक्षाएं – आर्यिका संयमभूषणमती प्रकरण से संशय के घेरे में आए आ० सन्मतिसागर जी से कम से कम इतनी तो अपेक्षा की ही जाती थी कि जब तक उन पर लगाया गया घ्रणित आरोप निर्मूल सिद्ध न हो जाए, वे नवीन आर्यिका दीक्षाओं से अपने को विरत रखेंगे। **स्याद्वद ज्ञान गंगा** (मार्च ९६) में प्रकाशित समाचार के अनुसार ब्र० संगीता जी की **"घोर युवावस्था में वैराग्य भावना एवं सुदीर्घ केशों का लोंच** देख कर जन समुदाय दंग रह गया और (उसने) मुक्त कंठ से जय-जयकार करते हुए (इस आर्यिका दीक्षा की) अनुमोदना की"। हम पूछना चाहते हैं कि क्या यही दृश्य कुछ वर्ष पूर्व आर्यिका संयमभूषणमती जी की दीक्षा के समय भी नहीं घटित हुआ था।

अच्छा तो यह होता कि आचार्य सन्मतिसागर जी कम से कम आरोप मुक्त होने तक महिला साध्वियों को अपने संघ से बिल्कुल अलग कर देते। पर उन्हें क्या कहें जब एक प्रख्यात युवा आचार्य श्री ने श्री सन्मतिसागर जी पर लगे आरोप से क्षुब्ध होकर मुनि संघों पर इस प्रकार के आरोप लगाए जाने की संभावनाओं को ही निर्मूल करने की दृष्टि से अपने बिगत चातुर्मास में सुझाव दिया था कि मुनि संघों से महिला साधिकाओं को आर्यिका संघों में भेज दिया जाय तथा आर्यिका संघों से पुरुषों को अलग कर दिया जाय तथा खुद भी इस पर अमल कर अपने संघ की साधिकाओं (आर्यिका, छुल्लिका, ब्रह्मचारिणी बहिनों) को ब्राह्मी विद्यापीठ में भेज दिया था, उन्हें अपनी शिष्याओं का अभाव कुछ ही महीनों में रास न आया तथा उन्होंने पुनः शिष्याओं को संघ में बुला लिया।

——

अभिनन्दन

श्रीमती जैनमती जैन, शिक्षिका, जैन वाला विश्राम उच्च विद्यालय, आरा, को उनके शोध-प्रबन्ध **पंचास्तिकाय का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन** पर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, द्वारा पी-एच. डी. उपाधि प्रदान की गई।

कुमारी ऊषा जैन को उनके शोध-प्रबन्ध **हिन्दी साहित्य के विकास में जैन कवियों (१५०० से १७०० ई० तक) का योगदान** पर विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, द्वारा पी-एच. डी. उपाधि प्रदान की गई।

श्रीमती ज्योति जैन को उनके शोध-प्रबन्ध **भारतीय संगीत को देशी संज्ञक जैन संगीत की देन** पर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, द्वारा पी-एच. डी. उपाधि प्रदान की गई।

साध्वी राजश्री को उनके शोध-प्रबन्ध **आचारांगवृत्ति का समीक्षात्मक अध्ययन** पर मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, द्वारा पी-एच. डी. उपाधि प्रदान की गई।

श्रीमती मुन्नी जैन को उनके शोध-प्रबन्ध **हिन्दी गद्य के विकास में पं० सदासुखदास जी का योगदान** पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. उपाधि प्रदान की गई।

उपाध्याय श्री विशाल मुनि को उनके शोध ग्रन्थ **पउम चरिउ और रामचरितमानस के पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन** पर विक्रमशिला हिन्दी विद्यापीठ, भागलपुर, द्वारा मानद डी. लिट्. उपाधि प्रदान की गई।

कु० नीलम जैन को १९९५ में संस्कृत-प्राकृत विभाग में एम० ए० की सर्वश्रेष्ठ छात्रा होने के लिए लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा १००० रु० का श्रीमती इन्द्रा तिवारी स्मृति पुरस्कार प्रदान किया गया।

प्रो० भागचन्द जैन 'भास्कर', अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, को उनकी कृति **जैन इतिहास, संस्कृति एवं**

पुरातत्त्व (अप्रकाशित) पर रु० २५,०००/- का वर्ष १९९५ का 'कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार' कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, द्वारा प्रदान किया गया।

प्राकृत भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में अपूर्व योगदान हेतु एक लाख रुपये का वर्ष १९९५ का 'आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार' जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी/जयपुर, के निदेशक डा० कमलचन्द सोगाणी को प्रदान किया गया।

डा० उदयचन्द जैन, अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनालॉजी विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, को उत्तम लेखन व श्रेष्ठ अनुवाद के लिए राष्ट्रीय भारतीय अनुवाद परिषद द्वारा **द्विवागीश पुरस्कार** से सम्मानित किया गया।

मरुधर केसरी विश्व अहिंसा पुरस्कार से सम्मानित किये जाने पर स्टाक एक्सचेन्ज बोर्ड ऑफ इण्डिया के अध्यक्ष श्री डी० आर० मेहता ने पुरस्कार की सम्पूर्ण ५१०००/- की राशि भगवान महावीर विकलांग सहायता समिति, जयपुर, को भेंट कर दी।

मुम्बई में ९ जनवरी को श्री जयन्तसूरि महाराज ने भारत के महामहिम राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा को **अनेकान्त रत्न** की उपाधि से अलंकृत किया। [इस अलंकरण से राष्ट्रपति की गरिमा की कोई श्री वृद्धि हुई हो, सन्देहास्पद है। आचार्य गण कब इस प्रकार के हास्यास्पद आयोजनों से विरत होंगे, दार्शनिक ऊहापोह के क्षेत्र में आता है। —सं०]

इण्टरनेशनल साइन्टिफिक रिसर्च एण्ड वैलफेयर आर्गेनाइजेशन, नई दिल्ली, द्वारा इस वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शाकाहार तथा समाज कल्याण के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिये जैन विदुषी लेखिका डा० नीलम जैन, सहारनपुर, को **जार्ज बर्नार्ड शॉ एवार्ड** से सम्मानित किया गया। [अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कार प्राप्तकर्ता के योगदान से **शोधादर्श** के पाठक अवगत होना चाहेंगे। —सं०]

भारतीय ज्ञानपीठ का वर्ष १९९५ का मूर्तिदेवी पुरस्कार मराठी के प्रख्यात उपन्यासकार श्री शिवाजी सावन्त को उनके उपन्यास **मृत्युंजय** पर प्रदान किया गया। [मूर्तिदेवी पुरस्कार की संस्थापना जैन साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के लिये की गई थी। क्या **मृत्युंजय** उस कोटि में आती है, इस पर निर्णायक मण्डल का स्पष्ट अभिमत अपेक्षित है। —सं०]

उपरोक्त सभी महानुभावों का **शोधादर्श** परिवार उनकी सफलता पर अभिनन्दन करता है और अपनी शुभकामना प्रेषित करता है। शोधकर्ताओं से हमारा निवेदन है कि अपने शोध-प्रबन्ध का सार-संक्षेप हमें प्रकाशनार्थ भेजें।

समाचार-विविधा

अमेरिका में जैन कला प्रदर्शनी

नवम्बर, १९९५, में संयुक्त राज्य अमेरिका में लॉस एंजिल्स कण्ट्री म्यूजियम ऑफ आर्टस् द्वारा फोर्ट वर्थस् किम्बेल म्यूज़ियम में तथा न्यू आर्लियन्स म्यूज़ियम ऑफ आर्टस् के भवन में 'पीसफुल लिबरेटर्स' के नाम से भारतीय जैन कला पर एक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया जिसमें लगभग २००० वर्षों में विकसित जैन कला को दिखाया गया। इस अवसर पर एक संगोष्ठी भी आयोजित हुई जिसमें विभिन्न देशों के कला विशेषज्ञों ने जैन कला के विविध पक्षों पर शोध-पत्र प्रस्तुत किये।

मुम्बई विश्वविद्यालय में जैन रिसर्च सेन्टर का उद्घाटन

जैन अकादमी, मुम्बई, द्वारा मुम्बई विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग के अन्तर्गत एक 'जैन अकादमी एज्युकेशनल एण्ड रिसर्च सेन्टर' संस्थापित किया गया है जिसका उद्घाटन २० दिसम्बर, १९९५, को कुलपति डा० स्नेहलता देशमुख की अध्यक्षता में ब्रिटेन में भारत के उच्चायुक्त डा० एल० एम० सिंघवी द्वारा किया गया।

सरदार विद्यालय, जोधपुर, का शताब्दी समारोह

महावीर काम्पलेक्स, जोधपुर में १ फरवरी, १९९६, से आयोजित सरदार विद्यालय, जोधपुर, के पांच दिवसीय शताब्दी समारोह का उद्घाटन महामहिम राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा द्वारा किया गया। समारोह के मुख्य अतिथि राजस्थान के राज्यपाल श्री बलिराम भगत और अध्यक्ष राजस्थान के मुख्य मंत्री श्री भैरों सिंह शेखावत थे। इस अवसर पर राष्ट्रपति ने इस संस्था के पूर्व छात्र व वर्तमान में ब्रिटेन में भारत के उच्चायुक्त डा० लक्ष्मी मल सिंघवी को 'प्रज्ञारत्न', सेबी के अध्यक्ष श्री डीं. आर. मेहता को 'समाज रत्न', प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री गोरधन मेहता को 'विज्ञान रत्न' तथा सांसद श्री नाथूराम मिर्धा को 'मरुधरा रत्न' की उपाधि प्रदान कर उनका अभिनन्दन किया। राष्ट्रपति को चूनड़ी का साफा पहनाकर सिरोपाव और स्मृति-चिन्ह भेंट किये गये।

सराक शोध संगोष्ठी

११–१३ फरवरी को गांधी नगर, दिल्ली में उपाध्याय श्री ज्ञानसागर महाराज की प्रेरणा से मेरठ विश्वविद्यालय तथा मगध विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में 'सराक शोध संगोष्ठी' आयोजित की गई।

Vegetarian Shoes

Robbin Webb, a vegetarian himself, is now making high quality footwear from a man-made fabric — free from animal products. He began by making shoes for friends from rubber and canvas, but then discovered a revolutionary man-made material, used in yachting, that looked and felt like leather. The material is as strong as leather, breathable, water-resistant and extremely scuff-resistant. Confident he had found the best material available, he raised the necessary capital to start a business. Since then it has boomed. He now sells his products from his shop, called *Vegetarian Shoes*, in Brighton on the southern English coast. His most popular range is the vegetarian Doctor Marten boot. The popularity of his products reflects the rising numbers of people in the United Kingdom who choose to be-

come vegetarians. A survey by the Vegetarian Society of the UK in 1991 showed that 3.1 million adults were vegetarians, about 7 percent of the population.

Courtesy : London Pictures Service

सन्मतिसागर–संयमभूषण प्रकरण

भोपाल से अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् के राष्ट्रीय सह-महासचिव श्री रवीन्द्र मालव ने "समाज सावधान रहे" शीर्षक से उनके नाम से समाज के कुछ महानुभावों को डाक से भेजे गये इलेक्ट्रोस्टेट परिपत्र का खण्डन तथा इस कुत्सित प्रयास की भर्त्सना करते हुए लिखा है कि जिस ढंग से यह पत्र लिखा गया है और इससे जिस लक्ष्य को साधने की कोशिश की गई है, वह कथित बलात्कार और व्यभिचार के आरोपों से घिरे सन्मतिसागर के प्रचार तंत्र का एक शर्मनाक कारनामा है। पत्र में व्यक्त विचारों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

Usha Rai reports in the Indian Express dated 20-9-1995 :

The National Human Rights Commission has intervened in the Jain Sadhvi rape case of Madhya Pradesh and asked the Chief Secretary, Mr. N. S. Sethi, to take cognizance of the offence and start investigations.

Sakshi, a Delhi-based NGO, had requested the Commission to inquire into the incident sometime ago and the Commission had taken up the issue with the Madhya Pradesh Government.

In response to letters from the Commission the Director-General of Police, MP, gave details of the investigations carried out by the State.

He said since the Sadhvis were not willing to report to the police, a crimimal case had not been registered. The police chief said, neither the Sadhvis nor anybody else had ever lodged a complaint at police station Morena or with the suprintendent of police, Morena.

"The Commission requests you to look into the matter from this point of view and to advise the police to put the law into motion."

Even if the victims of rape are within an organisation and not prepared to come to court, it is the duty of the police, a state agency, interested in regulating human conduct for a crime-free society, to follow the spirit of law and take effective steps to ensure that crimes do not go unpunished, the Commission has stated.

Sanjeev Majupuria reports in The Pioneer dated 19-2-96:

The Commission appointed by the Jain community, to probe into charges of molestation levelled by a Jain nun against her guru, was unable to hold its much awaited sitting in Bhind on Saturday.

The five-member commission had reached Bhind on Saturday. There are conflicting reports about the fiasco that occured before the commission from the supporters of the two camps.

Supporters of Acharya Sanmati Sagar asserted that during the deliberations on Saturday modalities for hearing were worked out

But the camp supporting Ms Saiyam Bhushan said that it was decided that the Acharya and the nun be brought forward to sit right beside a huge bonfire. They reasoned that the innocent person would escape unscathed.

Ms Bhushan's camp insisted that since the guru was the accused, he should face the test first. This suggestion was later, rejected. By then, it was night so the commission postponed its hearing.

However, members of the commission rushed to Gwalior, late Saturday night, when trouble from supporters of Acharya Sanmati Sagar was anticipated by local authorities.

प्रभाषगिरि में विद्वत्संगोष्ठी

२१ से २६ फरवरी को प्रभाषगिरि (पभोसा–कौशाम्बी, जिला इलाहाबाद) में आयोजित जिनबिम्ब पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर अ० भा० दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद द्वारा २४ फरवरी को 'जैनधर्म और पञ्चकल्याणक की वैज्ञानिकता' विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन हुआ। विद्वत्परिषद द्वारा 'भारतीय

संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' विषय पर पहले इलाहाबाद में आयोजित संगोष्ठी में पढ़े गये निबन्धों को स्मारिका रूप में वितरित करने का कार्यक्रम भी हुआ।

विदेशों में जैन साहित्य का प्रेषण

जैन केन्द्र, रीवा, के संयोजक डा० नन्दलाल जैन ने सूचना दी है कि डा० पुष्पा जैन, पेरानाद (बोकारो), बिहार, की ओर से अमरीका, ब्रिटेन, कनाडा, फ्रांस और कोस्टा रीका के जैन विद्या केन्द्रों और विद्वानों को डा० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री की कृति **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा** (चार भाग) के तेरह सैट भेजे गये हैं।

पश्चिम बंगाल के बूचड़खाने का विरोध

'अखिल भारतीय यांत्रिक कत्लखाने हटाओ समिति' ने पश्चिम बंगाल के मुख्य मंत्री श्री ज्योति बसु को पश्चिम बंगाल औद्योगिक विकास निगम द्वारा खोले जाने वाले विशाल यांत्रिक बूचड़खाने के विरोध में ज्ञापन दिया है।

लखनऊ में शाकाहार प्रदर्शनी

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की लखनऊ संभाग शाखा द्वारा दिसम्बर १९९५ में श्रीमद्भागवत, रामायण एवं कथा-ज्ञानयज्ञ के आयोजन के अवसर पर शाकाहार एवं जीवदया प्रदर्शनी आयोजित की गई।

राष्ट्रीय शाकाहार मेला

भारतीय जैन मिलन द्वारा ६–८ जनवरी, १९९६, को लाल किला मैदान, दिल्ली, में एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शाकाहार मेला आयोजित किया गया।

राष्ट्रपति की चिन्ता

भगवान महावीर कैन्सर चिकित्सालय एवं अनुसंधान केन्द्र, जयपुर, के प्रबन्ध न्यासी श्री विद्या विनोद काला से एक भेंट वार्ता में भारत के महामहिम राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा ने शाका-

हारियों में कैन्सर का अनुपात कम होने के कारण शाकाहार के प्रचार पर बल देते हुए **जैनधर्मावलम्बियों में फैल रहे मांसाहार पर चिन्ता व्यक्त की,** तथा इस सन्दर्भ में उन्होंने व्यावसायिक प्रतिष्ठान 'जैन वनस्पति' द्वारा विक्रय किये जाने वाले उत्पादनों का भी ज़िक्र किया।

राजस्थान में गोवध निषेध

अगस्त १९९५ में राजस्थान सरकार द्वारा 'राजस्थान गोवंशीय पशु (वध का प्रतिबन्ध और अस्थायी प्रवर्जन या निर्यात का विनिमयन) अधिनियम, १९९५' पारित किया गया जिसमें राजस्थान राज्य में गोवंशीय पशु (गाय, बछड़ा, बछिया, सांड और बैल) का वध करने और करवाने तथा गोमांस व उसके उत्पादों का विक्रय करने और विक्रय के लिए परिवहन करने व करवाने को निषिद्ध किया गया है। साथ ही, वध के लिये गोवंशीय पशुओं के निर्यात को प्रतिषिद्ध किया गया है। गोवंशीय पशुओं का अंग-भंग किये जाने पर कम से कम एक वर्ष के कठोर कारावास की सजा तथा सात हज़ार रुपये तक के जुर्माने से दण्डित किये जाने की भी उसमें व्यवस्था है।

राजस्थान सरकार का यह कार्य स्तुत्य है, किन्तु अच्छा होता यदि अन्य पालतू पशुओं जैसे भैंस, बकरियां आदि, के लिये भी ऐसी व्यवस्था होती।

मर कर भी अमर

झालावाड़ से श्री बलवन्त सिंह डाडा सूचित करते है :–भयंकर पेट दर्द की पीड़ा से तड़पते अपने पति को लेकर, एक महिला समीप के निजी अस्पताल में पहुंची। डाक्टर ने शीघ्र परीक्षा कर, आपरेशन होना अनिवार्य बताया। डाक्टर ने आपरेशन एवं दवाइयों के लिये दो हजार रुपये जमा कराने का निर्देश दिया, जिसे सुनकर वह मजदूर महिला घबरा गई। उसने दो हजार रुपये तो कभी देखे भी न थे। उसने अस्पताल में भर्ती अन्य बीमारों व आस-पास के लोगों को अपनी व्यथा सुनाई, परन्तु किसी प्रकार भी कोई सहायता न

मिली। कैन्सर से पीड़ित एक वृद्ध रोगी ने अपने पास में खड़े लोगों से रोती हुई महिला को देख कर रोने का कारण पूछा तो उसे बताया गया कि उसका पति गम्भीर पेट दर्द से पीड़ित है और आपरेशन के बिना उसका जीवन खतरे में है, आपरेशन के लिये दो हजार रुपये की आवश्यकता है जो उसके पास नहीं है। वृद्ध रोगी ने अपने पास उस महिला को बुलाया और तकिये के नीचे से दो हजार रुपये, जो उसके इलाज के लिये रखे हुए थे, निकाल कर शीघ्र जमा कराने हेतु देते हुए महिला से कहा 'मेरा क्या, उसका तो अभी सारा जीवन शेष पड़ा है।'

आपरेशन सफल रहा; रोगी को दो दिन बाद छुट्टी दे दी गई। घर जाकर स्वस्थ होने पर दो हजार रुपये का प्रबन्ध कर पुनः अस्पताल पहुँचा, लेकिन पलंग खाली मिला। पूछा तो पता लगा कि उस पर उपकार करने वाले वृद्ध का तो उसी दिन निधन हो गया था जिस दिन उस (रोगी) का आपरेशन हुआ था। वह वृद्ध मर कर भी अमर हो गया।

[आभार - **जिनवाणी**, जनवरी, १९९६]

शोक संवेदन

३१ दिसम्बर, १९९५, को शिखर जी में आचार्य सुमतिसागर की शिष्या आर्यिका विद्यामती माता जी का समाधिमरण हो गया।

५ जनवरी, १९९६, को अलीगंज (जिला एटा) में एक मास से सल्लेखना व्रत धारण किये पं० गम्भीर चन्द जैन वैद्य का समाधि-मरण हो गया।

८ जनवरी को राजगृह में जीवन पर्यन्त तीर्थों की सुरक्षा व उनके विकास तथा जैन धर्म एवं जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में सक्रिय रहे पटना निवासी समाजभूषण श्री बद्री प्रसाद सरावगी का स्वर्गवास हो गया।

१४ जनवरी को फिरोजाबाद में श्री मुन्ना लाल जैन गढीवालों की माताजी ९३ वर्षीया ब्रह्मचारिणी गुलाबबाई जी दिवंगत हो गई।

२६ जनवरी को लखनऊ में ८० वर्षीय इतिहास-मनीषी डा० बैजनाथ पुरी, अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, का निधन हो गया।

५ फरवरी को सेवा मन्दिर, जोधपुर, के ६५ वर्षीय श्री जौहरीमल पारख का स्वर्गवास हो गया। वह एक निस्पृही साहित्य सेवी और प्रबुद्ध चिन्तक थे।

१८ फरवरी को चन्देरी में पं० चुन्नी लाल शास्त्री की सरल परिणामी धर्मपत्नी श्रीमती हीराबाई का समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हो गया।

१९ फरवरी को बरेली में ७५ वर्षीया सुश्राविका श्रीमती निर्मला जैन का निधन हो गया।

२१ फरवरी को ७६ वर्ष की आयु में भूतपूर्व केन्द्रीय गृह मंत्री श्री प्रकाशचन्द सेठी का इन्दौर में देहावसान हो गया। उनकी अन्त्येष्टी राजकीय सम्मान के साथ सम्पन्न हुई।

२२ फरवरी को मेरठ में ८२ वर्षीया श्रीमती शांतमाला जैन, धर्मपत्नी श्री सुकुमार चन्द जैन, जो हमारी समिति के आजीवन सदस्य हैं, का स्वर्गवास हो गया।

२३ फरवरी को दिल्ली में सुप्रसिद्ध इतिहासकार एवं साहित्य सेवी, डा० गंगा राम गर्ग, भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, का निधन हो गया।

३ मार्च को जयपुर में श्रीमती पुष्पा जैन का ४६ वर्ष की अल्पआयु में निधन हो गया। यौवनावस्था में ही राजनैतिक कर्मठता के कारण वह राजस्थान सरकार में मन्त्री भी रह चुकी थीं।

शोधादर्श परिवार उपरोक्त के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, दिवंगत आत्माओं की सद्गति और शान्ति के लिये प्रार्थना करता है, और शोक संतप्त परिवारों के प्रति अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है।

आभार

डा० योगेश चन्द्र जैन, अलीगंज (एटा), ने अपने पिता पं० गम्भीर चन्द्र वैद्य के समाधिमरण के प्रसंग में **शोधादर्श** को सहयोग स्वरूप पचास रुपये की धनराशि प्रदान की।

पं० सत्यन्धर कुमार सेठी, उज्जैन, ने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सूरज कुमारी सेठी की स्मृति में **शोधादर्श** को सौ रुपये भेंट किये। उन्होंने १,११,००० रु० के स्थायी फण्ड से गरीब, असहाय, निर्धन लोगों की सहायता के लिए अपनी पत्नी की स्मृति में एक ट्रस्ट की भी स्थापना की है।

शोधादर्श को स्मरण करने के लिए उपरोक्त महानुभावों के प्रति सम्पादक मण्डल आभारी है।

पाठकों की दृष्टि में

मैं **शोधादर्श** रुचिपूर्वक पढ़ता हूँ। आपकी तथ्यपूर्ण, समीचीन आलोचनाओं को पढ़कर प्रसन्नता होती है। सामाजिक दृष्टि से तो सारा जैन समाज एक ही है। सैद्धांतिक और आचार-विचार रूप शिथिलताओं को उजागर करना आवश्यक है। आप स्तुत्य कार्य कर रहे हैं। सम्भव है आपके ठोस सुझावों की ओर मनीषियों का ध्यान आकृष्ट हो। आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस मूल संघ की स्थापना की थी, उसकी सुरक्षा और समृद्धि की जितनी आवश्यकता आज है, सम्भव है वह पूर्व में इतनी न रही हो। हमारे पूज्य मुनिवरों पर जब हमी लोग नाना प्रकार की उंगलियां उठाते हैं तो खिन्नता होनी स्वाभाविक ही है। लेख भी खोजपूर्ण हैं। आशा है, **शोधादर्श** के माध्यम से आप जागृति उत्पन्न करते रहेंगे।

—**श्री इन्द्रजीत जैन, एडवोकेट**, कानपुर

शोधादर्श से प्रतिवर्ष जैन विषयक अध्येता अभिलेखागार में लाभ उठाते हैं। आपका कार्य स्तुत्य है।

—**डा० गिरजा शंकर शर्मा**
सहायक निदेशक
राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर

आपके द्वारा प्रकाशित **शोधादर्श** के नवम्बर ९५ तक के २७ अंक नियमित मिले हैं। शोध के विषय में आपकी सेवाओं के प्रति हमारा साधुवाद स्वीकार करें। जैन संस्कृति में शोध और खोज के प्रति आपकी लगन और साहस का अभिनन्दन करते हैं। आपको स्मरण होगा कि परम श्रद्धेय स्व० डा० ज्योति प्रसाद जी का संघ और उसके प्रकाशनों के प्रति गहरा लगाव था। स्व० पं० कैलाश चन्द जी शास्त्री द्वारा सम्पादित **जैन सन्देश** का हर तीसरे माह एक विशेष **शोधांक** प्रकाशित होता था, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण योगदान आदरणीय डाक्टर साहब का रहता था।... आपके द्वारा प्रकाशित **शोधादर्श** को पढ़ कर बहुत शान्ति मिली। मैं चाहता हूँ कि इस प्रकाशन में आपको कुछ आर्थिक सहयोग करा सकूं।

अत: भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ की ओर से **शोधादर्श** के प्रत्येक अंक पर रु० १,०००/- प्रति अंक से आर्थिक सहयोग की मेरी भावना है।

—श्री तारा चन्द्र प्रेमी
(अध्यक्ष, अ. भा. दिगम्बर जैन संघ, मथुरा)
फिरोजपुर झिरका (हरयाणा)

[श्री भा० दि० जैन संघ की ओर से **शोधादर्श** के प्रत्येक अंक के लिये रु० १,०००/- के योगदान के आपके प्रस्ताव के लिए हम आपके हृदय से आभारी हैं, कृतज्ञ हैं। किन्तु हम **शोधादर्श** के लिये आपका इतना ही योगदान यथेष्ट समझते हैं कि आप समय-समय पर अपनी प्रतिक्रियाओं से हमारा समुचित मार्गदर्शन करते रहें। यदि कभी **शोधादर्श** को आर्थिक संकट से गुजरना पड़ा तो हम आपको अवश्य ही कष्ट देंगे।

हमारे अग्रज डा० ज्योति प्रसाद जी प्रारम्भ से ही संघ से सक्रिय रूप से जुड़े रहे तथा हमारा भी उन्हीं के माध्यम से संघ की गतिविधियों को मूक समर्थन रहा। **जैन सन्देश** के त्रैमासिक **शोधांक** के परिस्थितियोंवश बन्द हो जाने पर उसी की रिक्ति की पूर्ति के रूप में **शोधादर्श** का जन्म हुआ। यदि हम **शोधादर्श** के माध्यम से संघ की कोई सेवा कर सकें तो हमें प्रसन्नता होगी।

—प्रबन्ध सम्पादक]

शोधादर्श का २७वां अंक भी अक्षरश: पठनीय सामग्री से परिपूरित है। आपके सम्पादकीय और समाचार-समीक्षा ध्यान से एकाधिक बार पढ़ने योग्य रहते हैं। डा० शशि कान्त जी और रमा कान्त जी भी अच्छा लिखते हैं। **शोधादर्श** को अथ से इति तक पढ़ कर मैं प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। आप लोगों का परिश्रम प्रशस्त्य है। **शोधादर्श** के प्राय: सभी लेख आदर्श रहते हैं।

—पं० अमृत लाल शास्त्री, लाडनूं

शोधादर्श का २७वां अंक भी अपनी परंपरया स्तरीय शोध रचनाओं और जैन-जीवन सम्बन्धी विविध सूचनाओं से समन्वित है। **शोधादर्श** मुझे सम्पादन का सच्चा-सुघड़ स्वरूप प्रदान करता जान पड़ता है। निस्सन्देह, **शोधादर्श** के प्रस्तुत प्रकाशन के लिये आपको अथक परिश्रम करना पड़ता है। अस्तु, हार्दिक बधाई !

शोधादर्श–२६ के अन्तर्गत आपका विचार-बिन्दु अत्यन्त सरल, ओजस्वी, प्रभावोत्पादक, निष्पक्ष और सामयिक लगा। केन्द्र सरकार द्वारा प्राकृत भाषा को भारतीय संविधान की भाषा-सूची में सम्मिलित कराने सम्बन्धी प्रश्न पर आपकी टिप्पणी बड़ी बेबाक लगी। बुद्ध और महावीर की बोली (पालि और प्राकृत) के विषय में अकाट्य तर्क देकर आपने सच कहा है कि जब वे एक ही समय में एक ही भूभाग में प्रवचन दे रहे थे तो उनकी बोली भी एक ही होनी चाहिए, दो क्यों ? पालि और प्राकृत की भिन्नता के विषय में आपके विचार आपके गुरु-गम्भीर अध्ययन एवं सात्त्विक चिन्तन-मनन का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

—डा० ए० एल० श्रीवास्तव, इलाहाबाद

शोधादर्श अंक २७ में अजित प्रसाद जी का सम्पादकीय लेख दीपावली पर पढ़ा। कुछ इसी प्रकार के विचार मैंने अपने एक लेख में लिखे हैं जो **वीर** और **महासमिति पत्रिका** में 'मतलब निर्वाण का' शीर्षक से छपा है—शायद देखा हो। अजित प्रसाद जी के लेख से कई नई जानकारियाँ मिली हैं। **उत्तर पुराण** और **वड्ढमाण चरिउ** में दीपोत्सव का ज़िक्र नहीं है। मेरे ख़याल में दीपोत्सव और लाडू दोनों ही दक्षिण भारत की देन हैं जहाँ हर शुभ अवसर पर खासकर मन्दिरों में दीपमालिका की छटा दिखाई पड़ती है और तिरुपति के मोदक प्रसाद तो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। प्रसाद के लड्डू कोई खरीद कर भी ला सकता है।

कल्पसूत्र का आरम्भ व विस्तार ३५० ई० पू० व ४५३ ई० के बीच ८०० वर्षों में हुआ है, यह माना जाता है। परन्तु **कल्पसूत्र** में ज़िक्र आता है कि महावीर दीक्षा के समय निर्वस्त्र हो गये थे, किन्तु उनको इन्द्र ने देवदूष्य दिया जिसकी कीमत 'दीनारों' में बताई गई है। 'दीनार' पश्चिम एशिया का प्राचीन सिक्का है और सबसे पहला सिक्का सोने का ६९५ ई० का बताया जाता है। इसका अर्थ यह होना चाहिए कि **कल्पसूत्र** सारा ही नहीं तो उसका यह अंश अवश्य ही आठवीं सदी का है। इस बात का समर्थन लेख में उद्धृत उस अंश से भी होता है जहाँ लिखा है कि "**कर्मों** के छेदन वाले, **सवार्थ** को **सिद्ध** करने वाले, तत्त्वार्थों को जानने वाले तथा **भवोपग्राही** कर्मों से मुक्त करने वाले प्रभु

मुक्त हो गये।" अब यह वचनावली **तत्त्वार्थसूत्र** और **सवार्थसिद्धि** की याद दिलाती है। पश्चिमी विद्वान **तत्त्वार्थसूत्र** को छठी शताब्दी का मानते हैं और पूज्यपाद की **सवार्थसिद्धि** को छठी शताब्दी का हम मानते हैं। इसलिये **कल्पसूत्र** सातवीं शताब्दी के बाद तक विस्तृत होता रहा। इसके **बाद** भी होता रहा हो तो असम्भव नहीं।

लेखक के इस मन्तव्य में बड़ा वजन है कि **निर्वाणकाण्ड** गौतम स्वामी के समय की रचना है। इसके लिए उनने जो यह तर्क दिया है कि ऐसा न होता तो इस पूजा में उनके तथा जम्बू स्वामी के निर्वाण का जिक्र अवश्य ही अपेक्षित था, वह अकाट्य लगता है।

आजकल तो छानबीन की प्रणाली को छोड़कर घिसी-पिटी मान्यताओं का ही बोलबाला है। बन्धुवर अजित प्रसाद जी के विश्लेषण और प्रखर आलोचना से भरे लेख अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ते।

—जस्टिस एम० एल० जैन, नई दिल्ली

हमें प्रसन्नता है कि **शोधादर्श** पत्र द्वारा आप साहित्यिक और पुरातात्विक अनुसन्धान प्रवृत्तियां उसमें देते रहते हैं। और इस तरह समाज और जिनवाणी की आप लोग, बन्धुवर डा० ज्योति प्रसाद जी की तरह, साधना में संलग्न हैं।

—डा० दरबारी लाल कोठिया, बीना

प्रस्तुत अंक २७ भी अपनी गरिमामय पूर्व परम्परा के अनुरूप ज्ञानवर्द्धक एवं उच्च स्तरीय सामग्री से परिपूर्ण है। इसका प्रत्येक अंक पठनीय तथा संग्रहणीय है, इसमें कोई संदेह नहीं। वास्तव में यह एक सुन्दर साहित्यिक सत्प्रयास है।

—श्री वेद प्रकाश गर्ग, मुजफ्फरनगर

शोधादर्श नं० २७ की सामग्री पठनीय है। 'मूक पशु की आवाज' लेख प्रभावकारी है। जैन गणित में रूचि होने से मुझे 'जैन साहित्य में लोकानुयोग साहित्य' भी भाया।

—प्रो० आर० सी० गुप्ता, झांसी

शोधादर्श के सारे लेख उत्तम, रोचक, बोधप्रद लगे। आपकी पत्रिका ज्ञानवर्धक एवं उपयोगी है। अंक की विविधता और शोधपरकता काफी प्रभावी लगी। **शोधादर्श** समाज के जागृत महानुभावों तक पहुँचे। 'शिथिलाचार साधुवाद' जैन साधु का पराक्रम अब सारे विश्व भर में मालूम हुआ है। इसलिए सत्य स्थिति को देखते हुए इस समस्या को हल करना आवश्यक है।

—बालासाहेब सा० बलबान, बेडकीहाल (कर्नाटक)

शोधादर्श अंक २७ में आपने भारत के बाहर विश्व के प्रमुख नगरों में जैन मन्दिरों के निर्माण की सूचना दी। अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मेरी बड़ी लड़की वैंकूवर, कनाडा, में रहती है। मैं उससे इस विषय में पत्र लिख कर पता करूंगी।

झांसी के करगुवाँ जी में 'जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी' सम्पन्न हुई तथा बड़ा गांव में अ० भा० जैन पत्रकार सम्मेलन एवं सराक सम्मेलन सम्पन्न हुआ। जो भाषण व लेख वहाँ पढ़े जाते है, उनको पूरा का पूरा छापना आपके लिये शायद असम्भव होगा। वैसे आपने काफी अंश तो दिये हैं। पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

—श्रीमती राजदुलारी जैन, कानपुर

शोधादर्श–२७ यथासमय मिल गया। उसमें आ० मामाजी का 'शुभ-राग की हेयोपादेयता', सम्पादकीय 'जयति ज्योति पर्व' और चिन्तन कण, भाई रमा कान्त जी का जैन जनगणना विषयक लेख तथा अन्य सभी लेखकों के लेख शोधपूर्ण एवं मार्मिक हैं। पुनः एक बार फिर पढ़ रहा हूँ। बार-बार पढ़ने को मन करता है।

—श्री हुकम चन्द जैन, मेरठ

सम्मान्य श्री अजित प्रसाद जी द्वारा लिखित सार्थक सम्पादकीय, आँचलिक वैभव का सूचक लघु निबन्ध 'विदिशा वैभव', तथ्यपरक विभिन्न आँकड़ों युक्त जैनधर्मावलम्बियों पर सामयिक लेख, जीवदया पर आधारित चिन्तनयुक्त आलेख, सचमुच लघुकाय पुस्तिका **शोधादर्श** की प्राणवान सामग्री है।

आदरणीय डा० ज्योति प्रसाद जी की जन्मतिथि ६ फरवरी (६-२-१९१२) पर उनका श्रद्धायुक्त स्मरण हो आता है। क्रांतिकारी लेखन, समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति के सच्चे हितैषी वे अपनी लेखनी द्वारा जो महोपकार कर गये हैं—वह वस्तुतः जैन समाज की थाती है। साहित्यिक/सामयिक दृष्टि से शोधार्थियों व अन्य को उनकी लेखनी से परिचित कराते रहना बहुत अच्छी बात है। यह क्रम निरन्तर बना रहे।

साहित्य-सत्कार, समाचार-विमर्श और समाचार-विविधा **शोधादर्श** के मजबूत पहिये हैं। समाज की आध्यात्मिक, साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों की पदचाप संयुक्त रूप से इस जनोपयोगी पत्रिका के माध्यम से सुनाई देती है। ऐसी प्रेरक, आदर्श तथा ज्ञानवर्धक चातुर्मासिकी की सर्वविध उन्नति के आकांक्षी हैं। अंक २६ एवं अंक २७ निश्चित ही संग्रहणीय बन पड़े हैं।

—श्री मोती लाल जैन 'विजय' एवं **श्रीमती विमला जैन**, कटनी

नवम्बर ६५ का **शोधादर्श** प्रथम बार देखने में आया। सम्पूर्ण अंक को सहज निगाह में ही आद्योपान्त देखने पर लगा कि निस्सन्देह **शोधादर्श** एक सारगर्भित एवं संग्रहणीय चातुर्मासिक पत्रिका है। अंक में सामग्री-संयोजन उत्तम कोटि का है। प्रस्तुत अंक में 'विश्वलोचनकोशगत कतिपय नूतन शब्द' और 'भारत में जैन धर्मावलम्बी' बहुपयोगी तथा समाचार-विमर्श शीर्षकान्तर्गत पृष्ठ २७४ पर उल्लिखित 'पंचम, षष्ठम और अब तृतीय पट्टाचार्य भी" बड़ा वैचित्र्यपूर्ण है। इस प्रकार की गतिविधियाँ निस्सन्देह वैकल्पिक धर्मसंकट लाने में निमित्त हैं। अतएव गम्भीरता से विचार करना अत्यावश्यक है। यथानाम तथागुण धारक प्रस्तुति शोधार्थियों के लिए परमोपयोगी है।

—पं० पवन कुमार शास्त्री 'दीवान', मुरैना

चातुर्मासिक पत्रिका '**शोधादर्श**' जहाँ नियमित प्रकाशित हो रही है वहाँ ज्ञानवर्धन सामग्री, पुस्तक-समीक्षा एवं जैन-जगत के समाचार के कारण अपना मौलिक स्वरूप भी बनाए है। भारतीय जैन समाज की गतिविधियों का ब्यौरा जुटाना अपने में श्रमसाध्य है, उपयोगी तो है ही। शोध-प्रबन्धों का सार-संक्षेप भी शोधादर्श में देखने को मिलता रहता है। 'रंजतपुष्प' में आचार्य हेमचन्द्र पर किये गये शोधकार्य का विवरण है, इसे कुछ और पृष्ठ दीजिये। 'लेखक-लेख-अनुक्रमाणिका' देने में तो आपने बड़ा श्रम किया; यह उपयोगी है।

—डा० निजामुद्दीन, बालैनी, मेरठ

शोधादर्श में प्रकाशित सभी लेख शोधपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक हैं। डा० ज्योति प्रसाद का 'शुभ राग की हेयोपादेयता' निबन्ध बहुत आकर्षक एवं सारभूत है। इसी प्रकार श्री कैलाश भूषण जिन्दल द्वारा 'मूक पशु की आवाज' निबन्ध में पशुओं की ओर से की गई पैरवी सराहनीय है।

—डा० लाल चन्द जैन, वैशाली

आपकी यह पत्रिका निर्भीक एवं ज्ञानवर्द्धक तथा आगम अनुकूल है।

—श्री प्रेमचन्द जैन मित्तल, बड़ौत

शोधादर्श–२७ के लेख इतने सरस और ज्ञानवर्धक हैं कि एक बार अध्ययन शुरू करने के बाद पूरा अध्ययन किये बिना छोड़ने का मन नहीं करता है। मैं इसके अध्ययन से निष्कर्ष निकालने के लिये बाध्य हूँ कि **शोधादर्श** दिनानुदिन अपना स्तर निखार रहा है। "जयति ज्योति पर्व" नामक सम्पादकीय मुझे बहुत अच्छी लगी, क्योंकि इस विशद् सर्वेक्षण एवं आगमाधार लेख के द्वारा दीपावली पर्व की सार्थकता सिद्ध की गई है। लेकिन मोक्ष को शून्य का प्रतीक किस दृष्टि से कहा गया, यह जानने की बलवती जिज्ञासा है। बौद्धों ने मोक्ष को शून्य माना है, जो जैन मत के विरुद्ध है।

—डा० (श्रीमती) जैनमती जैन, आरा

जैन धर्म एवं दर्शन के विविध परिदृश्यों एवं चिन्तनपरक शोध लेखों से युक्त शोधादर्श का २७ वाँ अंक आद्योपान्त पठनोपरान्त अनुभूति हुयी कि यह पत्रिका स्वनामानुकूल शोधार्थियों के लिये एक अमूल्य निधि है। सम्पादक मण्डल साधुवाद के पात्र हैं।

—डा० राम सजीवन शुक्ल, कोंच

आ. श्री कैलाससागर सूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा
जि. गांधीनगर, पिन-382009.